

No - 057653

Lo - 43.15

२०८

“इन दिनों एक और दुष्प्रवृत्ति जो लगातार बढ़ रही है वह है पर-मुखापेक्षिता। हम यह मान कर चल रहे हैं कि कोई आसमान से टपकेगा और हमारे लिए काम करेगा। इस तरह के निपट इंतजार में फँस कर हम कुछ कर पायेंगे यह असंभव है। प्रतीक्षा किसकी ? कौन आने को है ? हमें ही हममें-से प्रकट होना है। कोई कहीं से प्रकट नहीं होगा। जो लोग या जो समाज स्वयं में-से प्रकट नहीं हो सकता और दूसरे किसी पुरुषार्थ का इंतजार करता है वह हाथ-पर-हाथ रखे बैठा रहता है और उसके इंतजार की घड़ियाँ असमाप्त बनी रहती हैं; किन्तु वे लोग जो खुद की ताकत पर भरोसा रखते हैं और प्रकाश को स्वयं तक खींच लाने का पुरुषार्थ करते हैं, अपराजित होते हैं और वक्त उन्हें अपनी छाती पर ध्वजारोहण का अवसर प्रदान करता है। काल-के-कलेजे पर कौन गाढ़ सकता है अपना झंडा, वह जो अपनी शक्ति को जानता है, जिसमें विवेक है, और जो जनमत का सम्मान करना जानता है। ऐसे तमाम लोग जो दूसरों का मुँह ताकते रहते हैं और स्वयं के बल को नहीं जानते, अन्ततः मिट जाते हैं और अपनी संजीवनी बर्बाद कर बैठते हैं। सामाजिक उत्थान का सबसे बड़ा गुरु है आत्मनिर्भरता।

—संपादकीय अंश

तीर्थंकर

पिछले कुछ महीनों से

साबूदाना

विवाद के घेरे में है

कुछ इसे खाद्य और

कुछ अखाद्य बता रहे हैं

कुछ इसके हिंसक और कुछ इसके

अहिंसक होने का दावा कर रहे हैं

चारों ओर दुविधा, द्वन्द्व और अस्पष्टता का

एक अन्तहीन जाल बिछ गया है

अतः

हमने तय किया है कि तीर्थकर के सितम्बर १९८८

और

शाकाहार क्रान्ति के सितम्बर-अक्टूबर १९८८ के अंकों में

हम अपने प्रिय पाठकों को

उन तथ्यों की आँखों-देखी, सही, संतुलित, सचित्र और तटस्थ

जानकारी उपलब्ध कराये ।

जिससे वे अब तक वंचित रहे हैं ।

प्रतीक्षा करें । अपनी प्रति सुरक्षित करें ।

मूल्य : 'तीर्थकर' रु. ५/-; 'शाकाहार क्रान्ति' रु. ७/-

प्राप्ति-स्थान : प्रबन्धक, हीरा भैया प्रकाशन, ६५, पत्रकार कालोनी; कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश



विचार-मासिक

सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

वर्ष १८; अंक ४; अगस्त १९८८
श्रावण वि. सं. २०४५; बी. ति. सं. २५१४

संपादक : डॉ. नेमीचन्द जैन
प्रबन्ध संपादक : प्रेमचन्द जैन
छायांकन : विश्वास जैन

हीरा भैया प्रकाशन
६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५८०४

वार्षिक शुल्क : पैंतीस रुपये
प्रस्तुत अंक : तीन रुपये
आजीवन : तीन सौ रुपये
विदेशों में वार्षिक : दो सौ रुपये

नईदुनिया प्रिंटर, इन्दौर-४५२००९ द्वारा हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर के लिए मुद्रित

क्या/कहाँ

हाथ-पर-हाथ/हाथ-में-हाथ

—संपादकीय ३

‘णमो लोए सव्वसाहूण’ : पुनर्व्याख्यान का इंतज़ार

—डॉ. अनिलकुमार जैन ७

जीवन-रस साभार भरेंगे (कविता)

—डॉ. रघुनन्दन चिले १३

रोशनी में चलें हम

—कन्हैयालाल सरावगी १५

अभी कुछ अधिक नहीं बिगड़ा है

—डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन १९

द्वेष : स्वरूप एवं व्यक्तित्व

—डॉ. हरीन्द्रभूषण २५

‘समय’ शब्द : कुछ नये आयाम

—गणेश ललवानी ३१

विदेश में : बज रही है अपनी-अपनी ढपली

(खत : जो मिला अभी-अभी)

—प्रलयंकर ३५

कसौटी (पुस्तक-समीक्षा) ३७

पत्र-पत्रांश ३९

समाचार-परिशिष्ट ४१

चुनौतियाँ/दिखावा-चुनौती (२)

—प्रलयंकर आव. ३

सम्यक्त्व-का-सावन आव. ४

हाथ-पर-हाथ / हाथ-में-हाथ

पता नहीं क्यों; इन दिनों हम हताश, खिन्न, निराश और रुद्ध हैं। हम हाथ-पर-हाथ रखे अपने अतीत पर न तो अभिमान ही कर पा रहे हैं और न ही, जो कुछ दिनों पहले हमारी मुट्ठी से रिपस गया है उसकी कोई समीचीन समीक्षा कर पा रहे हैं। हम इस तरह का कुछ महसूस कर रहे हैं, या थक गये हैं, या समाधान के सारे सूत्र खो बैठे हैं। हम न तो अपने भीतर ठीक से कोई डुबकी ले पा रहे हैं और न ही बाहर के संपूर्ण परिवेश का कोई ठीक-ठीक जायजा ले रहे हैं। जो लोग अब तक मार्गदर्शक इकाई के रूप में काम कर रहे थे, उनके भी अपने स्वार्थ उभर आये हैं और वे बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं रहे हैं। नैतिकताओं के पाँव-तले से ज़मीन खिसक गयी है। विश्वसनीयता ने दम तोड़ दी है। जिसे सहारा समझ कर हम कुछ आगे आये थे, उन्होंने यह साबित नहीं किया कि वे आधारभूत और विश्वसनीय हैं और अन्त तक साथ देने में समर्थ हैं। ऐसे में सूरज की एक किरण जरूरी लगती है—लगता है बार-बार कि अभी भी हमें अपने भीतर झाँकना चाहिये और वस्तुस्थिति की कोई यथार्थोन्मुख समीक्षा करनी चाहिये, जो न तो पूर्वग्रहग्रस्त हो और न ही अधिक निर्मम; किन्तु जो भविष्य-के-गर्भ-में-एक पगडंडी हो। जहाँ अँधेरा-ही-अँधेरा हो वहाँ किसी सुहागिन-की-माँग-जैसी कोई उजली/आशापूर्ण डगर तो मिल ही जानी चाहिये। चाहे जो हो, ऐसे विषम क्षणों में हमें आशा नहीं छोड़नी है और निष्क्रिय नहीं होना है—हारना तो किसी हालत

में हैं ही नहीं। निराशा हो कर हम कुछ पर पायेंगे, यह संदिग्ध है। हमें तो अपनी अँगुलियाँ समय-की-उस-नब्ब-पर जमानी चाहिये जो जमाने की नब्ब है, लोचनेतना की नब्ब है और जिसे पहिचान कर हम कोई सही और सुनिश्चित कदम उठा सकते हैं।

हमें सोचना है और सही सोच कर तुरन्त कोई कदम उठाना है। वक्त रुकने या रोकने का नहीं है; बल्कि तुरन्त चल देने का, पूरे बल के साथ चल देने का है; क्योंकि वे तमाम शक्तियाँ जो वुराइयों के खेमे में बैठी हैं अपनी बारूद सुखा चुकी हैं और लगातार अपने पंजे तेज कर रही हैं। ऐसे खतरनाक क्षणों में उन शक्तियों को जो अच्छाइयों में आस्था रखती हैं—संगठित ही नहीं बल्कि पूरे वेग के साथ सक्रिय हो उठना चाहिये। हमें सोचना चाहिये कि हम आज जिस तरह हाथ-पर-हाथ रखे बैठे हैं और कुछ कर नहीं पा रहे हैं—यह स्थिति किन कारणों की उपज है। कहाँ से हममें यह जड़ता प्रविष्ट हुई है? क्या हम इस रुद्धता को समाप्त नहीं कर सकते? वे कौन से तत्त्व हैं जो हमारे पाँव की बेड़ी बने हुए हैं? हम क्यों नहीं उनके खिलाफ़ कदम उठा पा रहे हैं जो बेहस तो खूब करते हैं; किन्तु जब मैदान में कूदने या काम करने-का-पल आता है तब किनारा कस जाते हैं? क्या हम ऐसे सारे लोगों को कभी पहिचान नहीं पायेंगे? क्या हम इन्हीं के इशारों पर इनकी स्वार्थपूर्ति के लिए सिर झुकाने चलते रहेंगे? हमें क्षण-भर रुकना होगा। समीक्षा करनी होगी। करारी समीक्षा करनी होगी। अपनी ताकत बटोरनी होगी। बाहर-भीतर के बिखराव को खत्म करना होगा। हवा का रुख देखना होगा, भाँपना होगा। एक नयी, स्वस्थ और सशक्त रणनीति निश्चित करनी होगी। ऐसा कोई कारण नहीं है कि हम चुप बैठे रहें और गलत/स्वार्थ-लिप्त शक्तियाँ हम पर हावी बनी रहें।

सबमें पहला कदम यह होना चाहिये इस दिशा में कि हम हाथ-पर-हाथ रखे रहने की जगह हाथ-में-हाथ डाल कर चलने की उपादेयता और महत्ता को समझें। हाथ-पर-हाथ रखे बैठे रहना, अकेले पड़ जाने की स्थिति है और हाथ-में-हाथ डाल कर चलने की स्थिति स्वस्थ सामाजिकता का श्रीगणेश है। हाथ-पर-हाथ में पश्चात्ताप और निराशा है और हाथ-में-हाथ में ताकत है, परस्पर सहयोग है; अतः हम इस जकड़ को खोलें, आगे आयें, एक-दूसरे की इच्छा-आकांक्षा को समझें और आपस-में-टूट-गये भरोसे को पुनरुज्जीवित करें। यदि एक+एक को हम एक+एक+एक+.....की एक अन्तहीन शृंखला में बदल सके तो जो ताकत हमारे साथ लगेगी वह अपूर्व होगी और हम स्वयं को एक कालजयी अस्तित्व के रूप में देख

पायेंगे। असलियत यह है कि हमने अब तक अपनी निज-की-ताकत को पहिचानने की न तो कोशिश ही की है और न ही अब तक यह अनुभव किया है कि वैसा करने की कोई आवश्यकता है? अतः उठें और द्वार खटखटा रही निराशा, या हताशा की भाषा को समझें और उसे मुहँतोड़ उत्तर दें।

इन दिनों एक और दुष्प्रवृत्ति जो लगातार बढ़ रही है वह है परमुखापेक्षिता हम यह मान कर चल रहे हैं कि कोई आसमान से टपकेगा और हमारे लिए काम करेगा। इस तरह के निपट इंतजार में फँस कर हम कुछ कर पायेंगे यह असंभव है। प्रतीक्षा किसकी? कौन आने को है? हमें ही हममें-से प्रकट होना है। कोई कहीं से प्रकट नहीं होगा। जो लोग, या जो समाज स्वयं में-से प्रकट नहीं हो सकता और दूसरे किसी पुरुषार्थ का इंतजार करता है वह हाथ-पर-हाथ रखे बैठा रहता है और उसके इंतजार की घड़ियाँ असमाप्त बनी रहती हैं; किन्तु वे लोग जो खुद की ताकत पर भरोसा रखते हैं और प्रकाश को स्वयं तक खींच लाने का पुरुषार्थ करते हैं, अपराजित होते हैं और वक्त उन्हें अपनी छाती पर ध्वजारोहण का अवसर प्रदान करता है। काल-के-कलेजे पर कौन गाढ़ सकता है अपना झंडा, वह जो अपनी शक्ति को जानता है, जिसमें विवेक है, और जो जनमत का सम्मान करना जानता है। ऐसे तमाम लोग जो दूसरों का मुहँ ताकते रहते हैं और स्वयं के बल को नहीं जानते, अन्ततः मिट जाते हैं और अपनी संजीवनी बर्बाद कर बैठते हैं। सामाजिक उत्थान का सबमें बड़ा गुर है आत्म-निर्भरता।

नकल एक ऐसा घुन है जो लगता तेजी से है; किन्तु एक बार उसके मेह-मान हो जाने के बाद फिर उसकी विदाई कठिन होती है। इन दिनों हम अनुकरण-की-डगर पर अपने पाँव डाले हुए हैं। हम बात-बात में दुहाई देते हैं कि वहाँ ऐसा हो रहा है, वे ऐसा कर रहे हैं अतः हमें भी वैसा ही करना चाहिये; यदि हमने वैसा नहीं किया तो समय की दौड़ में हम पिछड़ जाएँगे। हमारी यह दुहाई ठीक नहीं है। जो लोग अपनी मौलिकताओं को तिलांजलि दे कर या उन्हें भूल-बिसर कर किसी अनुकरण के आवेश में आगे बढ़ते हैं वे या तो बीच में ही टूट जाते हैं या फिर बिल्कुल बर्बाद हो जाते हैं। हमारी हालत भी आज यही है। हमने अपनी निजता को विस्मृत कर दिया है और नकल-के-उन्माद में एकदम आगे बढ़ते जा रहे हैं।

नकल का यह दौर स्वयं को मिटाने और ध्वस्त करने का दौर है। इति-हास के इस क्षण को उसकी सारी गहराइयों में समझना चाहिये। माना हम भार-

तीय समाज के अंग हैं; किन्तु इस बात को भी जानें हम कि एक अंग की भी अपनी प्रभुसत्ता और मौलिकता होती है, जिसे बिना बरकरार रखे अंगी की मौलिकता की रक्षा संभव नहीं है।

प्रश्न और प्रस्ताव मात्र सही परिप्रेक्ष्य में तथ्यों को जानने और समझने का है। उदाहरण के लिए आज जो जैन मन्दिर और इमारतें बन रही हैं वे मंदिर और इमारतें तो हैं; किन्तु जो, जितना, जिस तरह का शिल्पी जानता है, वह, उतना, उस तरह का उन्हें बना रहा है — हम उन पर जैन कला और शिल्प की कोई परम्परा अंकित नहीं कर पा रहे हैं, बल्कि कहें, जो कुछ विकसित हमें प्राप्त है, उसे अनजाने में नष्ट करने में लगे हुए हैं। खानपान में भी हमने वही किया है। अपना छोड़ हम दूसरों की ओर भाग रहे हैं और मुश्किल यह है कि हमारा अपना तो हाथ से खिसक ही गया है जो दूसरे का है उस पर भी हमें कोई कब्जा नहीं मिल सका है। यही स्थिति हमारे धन्वे-व्यवसाय की है। हमने अपने आदर्शों को बाला-ए-ताक़ रख कर दूसरों के आदर्शों और मूल्यों को स्वीकार कर लिया है नतीज़तन हमारे पास अपना कहने को जो भी बच रहा था, वह भी गाँठ-गठरी से गायब होने लगा है और हम एक अन्तहीन भ्रम में भटकने लगे हैं कि आज भी हम वही हैं जो पहले कभी थे। नारा लगा रहे हैं कि हम वही हैं; किन्तु आईना देखेंगे तो पता लगेगा कि हम अब वह नहीं रहे हैं, जो थे। बदलना बुरा नहीं है; किन्तु ऐसा बदलना बेमतलब है जो हमारी बुनियाद को ही तहस-नहस कर दे। आज तमाम बदलाव इसी श्रेणी का है (हुआ है, हो रहा है)।

इस तरह : यह देख लेने की ज़रूरत से हम इंकार नहीं कर सकते कि हम निराश होने की बजाय इस तथ्य का स्पष्ट विश्लेषण करें कि हम आखिर इस क्रूर निराश क्यों हुए जा रहे हैं? पता लगायें कि हम कौन थे, कहाँ थे, कैसे थे, और बदले हुए संदर्भ में हमें क्या हो जाना चाहिये, कहाँ होना चाहिये? वास्तव में देश-विदेश जहाँ भी हम हैं, वहाँ हमें अपनी बेलौस समीक्षा करनी चाहिये और जहाँ भी जो क्षति और सांस्कृतिक/नैतिक टूट-फूट हुई है उसकी दृढ़ता के साथ मरम्मत करनी चाहिये। मरम्मत कौन करेगा और उसकी शैली क्या होगी; इस बात पर तो विचार करना ही होगा; किन्तु इससे पहले यह भी समझ लेना होगा कि यह वैचारिक जीर्णोद्धार — इमारतों और मूर्तियों के जीर्णोद्धार से सर्वथा भिन्न-कितना संवेदनशील और सुकुमार है — इतना कि यदि हमने कहीं भी जरा भी कोई झूल की (जैसा कि लगातार करते चले आ रहे हैं) तो आने वाली पीढ़ियों को इसके भयंकर और अतिविनाशकारी परिणाम भोगने पड़ सकते हैं। □

‘णमो लोए सव्वसाहूणं’ : पुनर्व्याख्यान का इंतजार

असल में जैनों ने ‘साधु’ की परिभाषा को बड़ा जटिल, सीमित और क्लिष्ट बना लिया है तथा अपने-अपने आम्नाय/संप्रदाय के हिसाब से उसकी व्याख्या कर ली है। यही कारण है कि व्यापक व्यक्तित्व वाला ‘णमोकार महामन्त्र’ सिर्फ कुछ ही व्यक्तियों का मन्त्र बन कर रह गया है। यदि हमारे विद्वान् इस मन्त्र के पाँचवें पद के पुनर्व्याख्यान का साहस करें तो फिर यह महान् ऊर्जा-संपन्न मन्त्र मात्र जैनों तक ही सीमित न रह कर विश्व-संपदा बन जाएगा और जैनधर्म की इस उदार व्याप्ति को देख जैनेतर जन आपोआप जैनधर्म की ओर आकृष्ट होने लगेंगे।

—डॉ. अनिलकुमार जैन

जैनधर्म में णमोकार-मन्त्र का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक जैन, चाहे वह किसी भी आम्नाय का मानने वाला हो, इस मन्त्र पर बहुत श्रद्धा रखता है। आचार्यों एवं विद्वानों का मत है कि इस मन्त्र का किसी भी अवस्था में किसी भी समय स्मरण करने से सारे विघ्नों का नाश होता है, अतः इसका सदा स्मरण करते रहना चाहिये।

णमोकार मन्त्र में पाँच पद हैं, जिनमें क्रमशः अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार किया गया है। हम यहाँ मन्त्र के अन्तिम पद की चर्चा करेंगे। इसमें लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार किया गया है। यदि इसका शुद्ध शब्दार्थ लिया जाए तो लोक के समस्त साधु चाहे वे जैन हों या जैनेतर, इस पद में सन्निहित हो जाते हैं। इसी संदर्भ में ‘आर्य-समाज’ के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ‘सत्यार्थ-प्रकाश’ में जैनों की आलोचना करते हुए लिखा है कि जैन लोग बोलते तो हैं कि लोक के ‘समस्त साधुओं को नमस्कार’ लेकिन अर्थ लेते हैं—लोक के ‘समस्त जैन साधुओं’ को नमस्कार।

लेकिन आज स्थिति और अधिक खराब प्रतीत होती है। जैनों ने इस अन्तिम पद का अर्थ यदि यह भी लिया होता कि—‘लोक के समस्त जैन साधुओं को नमस्कार’, तो जैनों का विश्व में कुछ और ही स्थान होता। आज जैन समाज विभिन्न आम्नायों तथा सम्प्रदायों में विभक्त है; इसीलिए जैन इस अन्तिम पद का अर्थ मात्र यह ही नहीं लेते कि ‘लोक के समस्त जैन साधुओं को नमस्कार’, बल्कि वे और भी दो कदम आगे हैं। यदि कोई व्यक्ति दिगम्बर है तो वह इस पद का अर्थ निकालता है—‘लोक के समस्त दिगम्बर जैन साधुओं को नमस्कार’। श्वेताम्बर इसका अर्थ लेता है—‘लोक के समस्त श्वेताम्बर जैन साधुओं को नमस्कार’। इनमें भी विभिन्न भेद हैं, जैसे—तेरापंथी, बीस पंथी आदि। यदि कोई तेरापंथी स्थानक-वासी है तो वह इसका अर्थ लेता है—‘लोक के समस्त तेरापंथी स्थानकवासी जैन

साधुओं को नमस्कार'। इसके अतिरिक्त साधुओं में जातीय एवं क्षेत्रीय आधार पर भी बहुत सारे भेद हैं। जिस जाति और क्षेत्र का भावक है, वह उस जाति एवं क्षेत्र के साधुओं पर ही अधिक श्रद्धा रखता है तथा उन्हीं को नमस्कार करता है, अन्य को नहीं।

यहाँ मेरे कहने का तात्पर्य मात्र यह है कि णमोकार-मन्त्र के अन्तिम पद का जो सीधा-सादा अर्थ होना चाहिये था, आज उसे बहुत विकृत कर दिया गया है। कई बार देखा गया है कि दिगम्बर जन श्वेताम्बर साधुओं को तथा श्वेताम्बर जैन दिगम्बर साधुओं को नमस्कार नहीं करते हैं, बल्कि उल्टे निन्दा करते हैं। ऐसी स्थिति में जैनेतर साधुओं को नमस्कार करने की बात तो बहुत दूर की है। आखिर इस सबके लिए जिम्मेदार कौन है ?

इस स्थिति के लिए जिम्मेदार कट्टरपंथी जैन श्रावक तो हैं ही; लेकिन उनसे अधिक जिम्मेदार विभिन्न आमनायों के कट्टरपंथी जैन साधु हैं। कई बार देखा गया है कि यदि जैनों की दो अलग-अलग आमनायों के साधु रास्ते में विहार करते समय आमने-सामने पड़ भी जाएँ तो वे एक-दूसरे से कुशल-क्षेम भी नहीं पूछते। आपस में बात करना तो दूर रहा, मन में स्पर्धा/ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। ये साधु आपस में एक-दूसरे को नज़र उठा कर देखने में ही पाप-बन्ध होने का भय अनुभव करते हैं। कई बार देखा गया है-कि इन्हीं साधुओं के कहने पर श्वेताम्बर साधुओं को दिगम्बर धर्मशालाओं में तथा दिगम्बर साधुओं को श्वेताम्बर धर्मशालाओं में नहीं ठहरने दिया जाता है।

आज के भौतिकवादी युग में मांसाहार का प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा है। शाकाहारियों की संख्या में दिन-प्रतिदिन कमी आती जा रही है। धर्म के प्रति लोगों को अश्रद्धा होती जा रही है। ऐसी स्थिति में यदि जैन आपस में वैमनस्य रखेंगे तो आने वाली पीढ़ी जैनधर्म से विमुख होती चली जाएगी। वह तो यही निष्कर्ष निकालेगी कि जब जैनधर्म में छोटी-छोटी बातों को ले कर इतना विवाद है, तब इसमें अवश्य कहीं कोई खोट होगी और इस तरह उसकी जैनधर्म के प्रति आस्था लगभग समाप्त हो जाएगी। आज के इस विकासवादी युग में यदि हम समय-रहते अपने वेबुनियाद एवं संकुचित विचारों से ऊपर नहीं उठ पाये तो निश्चित रूप से अपनी आने वाली पीढ़ी के लिए विरासत में जैनधर्म के प्रति मात्र अश्रद्धा ही दे पायेंगे; अतः स्थिति बद से बदतर हो इससे पूर्व प्रत्येक जैन का कर्तव्य है कि वह इस मुद्दे पर भलीभाँति विचार करे तथा आगे आने वाली जैन पीढ़ी को समाज का एक संगठनात्मक रूप प्रदान करे।

आज प्रत्येक कार्य में राजनीति का बहुत अधिक हस्तक्षेप रहता है। यदि आप संगठित हो कर एक मंच से कोई एक आवाज़ उठा रहे हैं, तो थोड़ी उम्मीद

है कि शायद कोई आपकी आवाज़ सुन ले वना छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे लोगों को घास कौन डालेगा ? इसी कारण आज णमोकार मन्त्र के अन्तिम पद की तर्कपूर्ण एवं उचित व्याख्या की अत्यन्त आवश्यकता है । अब हम यहाँ देखेंगे कि प्राचीन काल में णमोकार मन्त्र के अन्तिम पद को किस रूप में लिया जाता था ।

णमोकार मन्त्र की प्राचीनता के संबन्ध में लोगों का मानना है कि यह मन्त्र अनादि है; क्योंकि अरिहन्त, सिद्ध तथा साधु अनादिकाल से होते चले आ रहे हैं। वैसे इस मन्त्र का प्राचीनतम उल्लेख श्रीधरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त तथा भूतवली कृत 'षट्खण्डागम' में मंगलाचरण के रूप में मिलता है । 'भगवती आराधना' की टीका में इसे गणधरकृत कहा है । यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि णमोकार मन्त्र बहुत प्राचीन है तथा जैनों के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त हो जाने के पश्चात् भी अनवरत रूप से इसे मान्यता दी जाती रही है । इसके मूल पाठ में भी अन्तर नहीं आया है । इस मन्त्र के अन्तिम पद में 'साहूण' से पूर्व 'सव्व' शब्द का प्रयोग पहले भी होता था, आज भी होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन जैनाचार्य (श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों) उदार विचारधारा वाले थे । श्वेताम्बर तथा दिगम्बर भेद होने के बाद भी उनके मन में कभी वैमनस्य नहीं आया बल्कि सौहार्द का वातावरण बना रहा । इसी कारण णमोकार मन्त्र में भी कोई अन्तर नहीं आया तथा दोनों सम्प्रदाय के आचार्यों के अनुसार पाँचवें पद का अर्थ मात्र 'लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार' ही था ।

अब प्रश्न यह है कि साधु किसे कहें ? दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार साधु वह है जो अट्टाईस मूल गुणों को धारण करे । ये अट्टाईस मूल गुण हैं — पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-जय, छह आवश्यक, तथा सात विशेष । जो इन गुणों को धारण नहीं करते वे साधु नहीं हैं; अतः इन साधुओं को ही नमस्कार करना चाहिये । इसी प्रकार श्वेताम्बरों की अपनी अलग परिभाषा है; लेकिन श्वेताम्बर-दिगम्बर-भेद से पूर्व तो साधु की एक ही परिभाषा रही होगी, तब णमोकार मन्त्र के अन्तिम पद में 'सव्व' शब्द के प्रयोग का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कुछ विद्वानों का मत है कि साधु पाँच प्रकार के होते हैं — पुलाक, वकुश; कुशील, निर्ग्रन्थ एवं रनातक; अतः अन्तिम पद में जो यह कहा गया है कि सब साधुओं को नमस्कार, वह इन पाँच प्रकार के साधुओं के लिए कहा गया है; लेकिन यह युक्ति तर्क-संगत नहीं लगती; क्योंकि ये पाँचों साधु भी २८ मूलगुणों के धारक होते हैं, और जब साधु की एक परिभाषा नियत कर दी गयी तब उसमें और भेद देखने का कोई प्रयोजन नहीं है । जिस प्रकार अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य तथा उपाध्याय की परिभाषाएँ निश्चित हैं तथा उन्हें नमस्कार करने के लिए णमोकार मन्त्र के प्रथम

चार पदों में 'सव्व' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। उसी प्रकार जब साधु की परिभाषा भी निश्चित कर दी गयी है कि उसे अट्टाईस मूल गुणों का धारक होना चाहिये, तब पाँचवें पद में 'सव्व' शब्द का क्या प्रयोजन है ? उपरोक्त पाँचों प्रकार के साधु अट्टाईस मूल गुणधारी होते ही हैं; अतः प्रश्न जहाँ-का-तहाँ बना रहता है। कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता।

जैनधर्म अनेकान्त-मूलक है। इस धर्म में विश्व के सभी दर्शन/धर्म किसी-न-किसी अपेक्षा से समाहित हो जाते हैं। जिस प्रकार जैनधर्म में यह व्यापकता है, उसी प्रकार 'णमोकार मन्त्र' के अन्तिम पद में भी वही 'व्यापकता' सन्निहित है। इतने गुणधारी साधु हो सकता है, या उतने गुणधारी हो सकता है आदि बातें तो विभिन्न आम्नायों द्वारा बाद में बनायी गयी प्रतीत होती हैं। हमें तो इस रूप में सोचना चाहिये कि जैनधर्म में व्यक्ति-पूजा का कोई महत्त्व नहीं है, बल्कि व्यक्ति में मौजूद उसके गुणों से ही मतलब है। यदि कोई व्यक्ति मुनियों के गुण किसी एक अंश में भी रखता है तो उसके वे गुण नमस्कार करने योग्य हैं। उन अंशतः गुणों के कारण ही वह व्यक्ति भी नमस्कार करने योग्य है। णमोकार मन्त्र के अन्तिम पद में 'सव्व' शब्द का प्रयोग भी इसी कारण किया गया है।

बहुत से साधु ऐसे हैं, जो 'जैन' नहीं हैं; लेकिन उनके आचार-विचार जैन साधुओं-जैसे हैं। तो क्या उनके वे गुण वन्दनीय नहीं हैं ? यहाँ मैं एक कहानी उद्धृत करूँगा। एक बार एक सुनार राजमुकुट का बहुमूल्य हीरा साफ कर रहा था। इतने में एक कलन्दर साधु भोजन करने के लिए वहाँ आ गया। सुनार ने उस साधु को ऊँचे आसन पर बिठाया और स्वयं उस हीरे को वहीं छोड़ साधु के भोजन का प्रबन्ध करने घर के अन्दर चला गया। वहाँ एक शतुरमुर्ग पहले से ही घूम रहा था। वह इस हीरे को निगल गया। भोजन का प्रबन्ध करके जब वह सुनार वापिस आया तब उसके तो होश उड़ गये। उसने साधु से पूछा - 'क्या यहाँ कोई व्यक्ति आया था ?' साधु ने कहा - 'नहीं'। फिर उसने पूछा कि 'वह हीरा कहाँ है ?' इस पर वह साधु मौन बना रहा। सुनार के बार-बार पूछने पर भी साधु कुछ नहीं बोला। तब सुनार को विश्वास हो चला कि वह हीरा इसी साधु ने चुराया है। सुनार को क्रोध आ गया तथा वह साधु को डण्डे से पीटने लगा। डण्डे से मारने पर भी वह साधु चुप बना रहा। पीटते-पीटते डण्डा सुनार के हाथ से छूट गया तथा वह शतुरमुर्ग की गर्दन पर जा लगा। इससे वह हीरा शतुरमुर्ग के गले से बाहर आ निकला। यह देख सुनार के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। उसने साधु से क्षमा माँगी तथा कहने लगा - 'यदि आप मुझे पहले ही यह बता देते कि हीरा शतुरमुर्ग ने निगल लिया है, तो मुझसे अह अनर्थ न होता। आपने मुझे यह

बात क्यों नहीं बतायी ।' इस पर साधु बोला - 'यदि मैं तुम्हें यह बता देता कि हीरा शतुरमुर्ग ने निगल लिया है तो तुम तुरन्त उस हीरे को पाने के लिए शतुरमुर्ग को मार डालते तथा उस हिंसा का दोष मुझे लगता' ।

यहाँ प्रश्न यह है कि ऐसे महान् विचार वाला वह कलन्दर साधु क्या साधु नहीं है ? क्या उसे नमस्कार करना अनुचित होगा ? आज भी देश-विदेश में अनेक ऐसी विभूतियाँ हैं जो साधु-जीवन बिता रही हैं, दूसरों का दुःख दूर करने में लगी हुई हैं तथा प्राणि-मात्र की रक्षा चाहती हैं क्या 'लोक-के-समस्त साधुओं' में ऐसे व्यक्तियों की गिनती करना अनुचित होगा ?

वस्तुतः जैनों ने साधु की परिभाषा को जटिल, सीमित और क्लिष्ट बना लिया है तथा अपने-अपने आम्नाय/सम्प्रदाय के हिसाब से उसकी व्याख्या कर ली है । इसी कारण यह व्यापक 'णमोकार महामन्त्र' मात्र कुछ व्यक्तियों का मन्त्र बन कर रह गया है । यदि हमारे विद्वान् इस मन्त्र के पाँचवें पद की पुनः तर्क-संगत तथा स्पष्ट व्याख्या करने की हिम्मत करें तो यह णमोकार महामन्त्र मात्र जैनों तक ही सीमित न रह कर विश्वव्यापी हो जाएगा तथा जैनधर्म की इस व्यापकता को देख कर अन्य/जैनतर लोगों की ख़्बान भी जैनधर्म की ओर आपोआप होने लगेगी ।

'मेरी भावना' में पं. जुगल किशोर मुख्तार ने लिखा है -

विषय की आशा नहीं जिनके साम्य भाव धन रखते हैं ।

निज-पर-के-हित-साधन में जो निशि-दिन तत्पर रहते हैं ॥

स्वार्थ-त्याग की कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं ।

ऐसे जानी साधु जगत् के दुःख-समूह को हरते हैं ॥

यानी जिनके विषय-भोगों की इच्छा नहीं है, जो समता-भाव धारण किये हुए हैं, जो अपने तथा दूसरों के कल्याण के लिए प्रयत्नशील हैं, जो स्वार्थ-त्याग का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं, ऐसे साधु संसार के दुःखों को हर लेते हैं । क्या साधु की यह परिभाषा अ-पर्याप्त है ? इतना होने पर भी किसी व्यक्ति के साधु होने अथवा न होने के लिए क्या उसमें श्वेताम्बर, दिग्म्बर, जैन या जैनतर का भेद ढूँढना आवश्यक है ? □ □

तू व्यापारी के रूप में इस संसार-बाजार में आया है । तेरा कर्तव्य है कि तू ऐसा व्यापार कर जिससे तू फायदे में रहे और जीवन सब तरह से आनन्दमय बने । यदि तू ऐसा नहीं करता है तो संकट को तू अपने सिर पर खड़ा समझ ।

-कविवर बुधजन

(तीर्थंकर) : अगस्त ८८/११

तीर्थंकर शाकाहार प्रकोष्ठ इन्दौर का एक
महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

आँसू : ज़हर ही ज़हर

तीसरा संस्करण : मूल्य - तीन रुपये : पृष्ठ-३६ : सचित्र आवरण

- क्या आप जानते हैं कि हमारे इस अहिंसक देश में प्रतिवर्ष १४ अरब अण्डों का उत्पादन हो रहा है यानी पूरे देश की आबादी से लगभग १८ गुना भ्रूण-हत्याएँ हो रही हैं ?
- क्या हम अहिंसा और शाकाहार में सुदृढ़ आस्था रखने वाले लोग इस कड़वी सचाई की अनदेखी करेंगे ?
- क्या चिकित्सा-शास्त्र और आहार-विज्ञान के ठोस तथ्यों की जानकारी जनता तक पहुँचा कर हम उसे आहार-भ्रष्ट होने से बचाने का अपना कर्तव्य नहीं निभायेंगे ?
- क्या चिकित्सा-शास्त्र और आहार-विज्ञान के ठोस तथ्यों की जानकारी जनता तक पहुँचा कर हम उसे आहार-भ्रष्ट होने से बचाने का अपना कर्तव्य नहीं निभायेंगे ?

अतएव

आप जहाँ भी हों वहाँ और उसके इर्द-गिर्द के ग्राम-नगरों में मात्र ढाई रूपयों में उपलब्ध इस तर्क-संगत पुस्तक की संकड़ों प्रतियाँ बँटवाइये, जीव-रक्षा का पुण्य कमाइये और मांसाहार के चुम्बकीय दैत्य का डट कर मुकाबला कीजिये ।

पुस्तक मँगवाने का पता—

प्रबन्धक, 'तीर्थंकर शाकाहार प्रकोष्ठ', ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश

जीवन-रस साभार भरेंगे

पेड़ नै कर दिया एलान—
पीले पत्तों को जाना होगा।
देना होगा अपना स्थान,
नई कोपलों को ।
पीली पत्तियाँ अब व्यर्थ हैं ।
जी लिया शैशव, कैशोर्य,
हरीतिमा-भरे जवानी के दिन।
बिता लिये सुख में पल-पल, छिन-छिन।
समेट लिया परितृप्ति का रस,
अब बस ।
अब तो रस भी नहीं शेष ।
आकर्षक भरा नहीं रहा परिवेश ।
जाग्रो, मेरे अभिन्न ।
हालाँकि तुमसे विलग होने का
विचार-मात्र कर रहा
मेरे मन को खिन्न ।
तुम जानते हो धरती का रस
सूख रहा है ।
जर्जर जड़ों का समूह फिर भी अपनी ताकत-भर,
रस के लिए जूझ रहा है,
ताकि उनके श्रम से
जीवन रहे मुझमें, मेरी शाखाओं में,
मेरी पत्तियों में ।
मैं अविचल खड़ा रहूँ ।
धरती की छाती पर अड़ा रहूँ ।
तो प्रिय, अलविदा !!
पत्ते खिलखिलाये, नाचे, गाये,
और विलग हो गये पेड़ से ।

हवा का झोंका तो बहाना-भर था।
उत्सर्ग तो उनकी नियति थी, प्रण था।

पेड़ श्री-विहीन हो गया।
उनके जाते ही शोकार्त हो,
अपने सुखद अतीत की स्मृति में खो गया।
भावोद्वेग में क्रन्दन करते हुए बोला-
अरे रुको तो।

मैं तो री में बह गया था।
न जाने क्या कुछ तुमसे कह गया था।
मुझे माफ कर दो।

आ जाओ/मुझ पर छा जाओ।
तुमने तो मेरे हृदय के स्पन्दन को सुना है।
भय, शोक, आतंक, सुख, आनन्द आदि के
संवेगात्मक क्षणों में-से भी अपने लिए,
बहुत कुछ चुना है।

पत्ते इठलाते, हवा के झोंकों पर नाचते,
दूर होने का उपक्रम करते बोले-
अरे नहीं,

हमने तुम्हारे कहे का बुरा नहीं माना है।

तुम्हें सदैव अपना पोषक ही जाना है।

पर यह तो प्रकृति-का-क्रम है।

इसमें कौन कर सकता व्यक्ति-क्रम है ?

हम भी तो कोपलें रहीं हैं।

हमारा अपना समय समाप्त हो गया है।

हमें अपनी पिछली पीढ़ियों के त्याग का
ऋण चुकाना है।

हमें जाना है/हमें जाना है।

हम जाएँगे, जरूर जाएँगे ?

किन्तु आप हमें अपने से दूर नहीं पायेंगे।

कहीं धरती पर गिर कर,

सड़-गल कर खाद बनें।

और पेड़ों की शिराओं में

जीवन-रस साभार भरेंगे। □

रोशनी में चलें हम

सम्यग्दृष्टि सब कुछ समतापूर्वक सहता है, इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि उद्विग्न हो जाता है और कभी-कभी भावावेश में हत्या, आत्महत्या—जैसे जघन्य कृत्य भी कर बैठता है। प्रमाद मिथ्यात्व की उर्वर भूमि है, ये दोनों साथ रहते हैं। विवेक और ध्यान से इस पर विजय मिल सकती है। माथे में शास्त्रों का बोझ होने से मिथ्या-प्रमाद को नहीं मिटाया जा सकता।

—कन्हैयालाल सरावगी

‘मिथ्यात्व’ शब्द ‘मिथ’ या ‘मिथ्या’ से बनता है। मिथ्या वह है, जिसे प्रत्यक्ष, परोक्ष या अनुमान किसी भी प्रमाण से सिद्ध न किया जा सके। इस प्रकार मिथ्यात्व वह मनःस्थिति है, जिसमें नैसर्गिकता का अभाव और कृत्रिमता का भाव होता है। मिथ्याती—जिसकी मानसिकता आग्रही हो—को अपने रूप गुण-वैभव, विद्या, बल, सामाजिक स्थिति आदि का गर्व होता है और वह यह अपेक्षा रखता है कि सभी उसका आदर करें, उसे नमन करें और उसकी सराहना करें। अहंकार-वश वह अपने कार्यों को सर्वश्रेष्ठ मानता है, वह यह भी चाहता है कि देश, राष्ट्र, समाज या परिवार की सारी व्यवस्थाएँ उसी की राय से हों। वह सोचता है कि मैं ही एकमात्र धर्म को जानने वाला और धार्मिक हूँ, धर्म के विषय में मैं सभी का मार्गदर्शन कर सकता हूँ, अन्य सब लोग अज्ञानी हैं और वे जो कुछ करते हैं, गलत और निकृष्ट करते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व का बहुत बड़ा पसारा है। प्रमादी मानव के मत्तोराज्य पर उसने शासन जमा रखा है और निरन्तर इस या उस के माध्यम से अपने साम्राज्य का विस्तार करता रहता है। इतर चिन्तनों में इसे (मिथ्यात्व) नास्तिकता, कुफ्र, डिसबिलीफ आदि नामों से जाना जाता है।

राग आदि कषाय मिथ्या होने के कारण आत्मा के स्वगुण नहीं हैं, फिर भी रागी, द्वेषी, मोही, लोभी, क्रोधी, मायावी, मानी व्यक्तियों की विपुलता है। ऐसे लोगों ने अपने ही समान रागी, द्वेषी, मोही आदि भाव वाले देवों की भी कल्पना कर ली है और अपनी युक्त-अयुक्त सभी कामनाओं की पूर्ति-हेतु उनकी आराधना, पूजा आदि करते और मनौतियाँ मनाते हैं। उन्होंने इसी प्रकार के क्रोधी, मानी, संग्रही, मन्त्र-तन्त्रवादी और अनीतिमान् गुरु भी बना रखे हैं और उन्हें वे आदर्श भी मानते हैं। ये गुरु ने मनमाने ढंग के शास्त्रों की रचना कर उनके प्रचार-प्रसार में लग कर अपने अनुयायियों को गलत मार्ग (उन्मार्ग) पर चलाते हैं।

मिथ्या देवों, गुरुओं और शास्त्रों की आराधना, सेवा, स्वाध्याय आदि करने वाले लोग मिथ्यात्व के वशीभूत हो कर, धन, पुत्र, आरोग्य, ख्याति, पुरस्कार आदि को देव-प्रदत्त और गुरु-का-प्रसाद मानते हैं। लोभ और मोह के वशीभूत हो कर झूठ-

सच बोल कर, छल-कपट आदि अनैतिक व्यवहार से परिग्रह (सम्पत्ति) का अर्जन और संचय कर उसे अपने पुण्य या अथवा देवों के अनुग्रह का फल मानते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व और अधर्मबुद्धि का प्रसार हो रहा है।

मिथ्या दृष्टि के कारण धर्म का रूप जितना विकृत हुआ है, शायद उतना और किसी तत्त्व या मान्यता का नहीं हुआ है। धर्म-अधर्म को न जानने वालों का उन्मार्गी होना उतना आश्चर्यजनक नहीं है, जितना उन लोगों का, जो धर्म के वास्तविक मर्म को समझने, जानने के साधनों से सम्पन्न हैं। वस्तुतः देखा जाए तो ऐसे तथाकथित धार्मिक लोग अधर्म में अधिक डूबते हैं और वे भी बाह्य क्रिया-काण्डों के आडम्बरो को ही धर्म मान लेते हैं और उसी की वकालत करके स्व और पर दोनों को अधिक गहरे अन्धकार में धकेल ले जाते हैं। अज्ञानी की अपेक्षा अल्प-ज्ञानी, या जड़ज्ञानी, अथवा वक्रज्ञानी अधिक भयंकर होता है। वह स्वयं तो अँधेरे में होता ही है, दूसरों को भी प्रगाढ़ अन्धकार में धकेलता है। जो किसी तरह समाज में ऊँचा उठ जाता है, वह स्वयं विषय का जानकार न होते हुए भी प्रायः सभी विषयों में राय देने लगता है, अपनी असद् विद्या और दलीलों के आधार पर वह अपनी मान्यता को सही सिद्ध करने की चेष्टा करता है।

रावण इसका एक उदाहरण है। वह पण्डित था, भौतिक और आध्यात्मिक विद्याओं का जानकार था, विद्वान् शक्तिमान्, ऐश्वर्यवान्, बलवान्, साम्राज्य-नायक और अत्यन्त प्रभावशाली था। वह भौतिक शक्तियों का स्वामी था और विराट सैन्यबल रखता था। वाग्मी (वाचाल) ऐसा था कि उसकी दलीलों (युक्तियों) के आगे सभी हार मानते थे। स्वयं उसके भाई, पुत्र, स्त्री आदि भी उसके सामने निरुत्तर हो जाते थे। वह अजेय योद्धा था, इच्छानुसार प्रगट और लुप्त हो सकता था, अनेक प्रकार की माया कर सकता था और अपने विरोधी का रूप भी बना सकता था। इतने सारे गुणों के होते हुए भी वह आग्रही, दुराग्रही, अभिमानी, जिद्दी और मिथ्याती था। सीता का हरण करके उसने अधर्म और अनैतिक को नीति-सिद्ध करना चाहा था, पर इसके कारण उसके विशाल कुल का समूल उच्छेद-सा हो गया।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के कर्म में भेद नहीं होता उनके उद्देश्य और विचार में भेद होता है। अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, मोह और आसक्ति के कारण जिस कर्म से अनन्त संसार, दुःख और दुर्गति का बन्ध और सृष्टि करता है, सम्यक्ज्ञानी उसी कर्म से अनासक्ति, अमोह और अकषाय के कारण सुगति, आनन्द और मोक्ष का साधन कर लेता है। मिथ्यादृष्टि उस व्यक्ति से घृणा करता है और उसे मिटा देना चाहता है, जिस पर स्वयं उसी ने अत्याचार या अनाचार किया होता है। यह उसका स्वभाव होता है। इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि मनुष्य अनिष्ट और शत्रुता करने

वाले का भी अनिष्ट नहीं चाहता या करता है। वह काँटे बिछाने वाले के मार्ग के भी फूल बिछाने की भावना रखता है।

कभी-कभी ज्ञानी के जीवन में भी विपरीतताएँ आती हैं और उसे किंचित् विचलित और चिन्तित-सा कर देती हैं, परन्तु वह वस्तु-स्वरूप का विचार कर उस परिस्थिति का उदासीन दृष्टा हो जाता है, इसलिए उस पर उन विपरीतताओं का प्रभाव अधिक नहीं हो पाता और वह सुख-दुःखादि वेदनाओं से मुक्त हो जाता है। मिथ्यादृष्टि वाले ऐसी परिस्थितियों में देव, दैव, व्यक्ति विशेष आदि को इसके लिए दोषी समझता है। सम्यग्दृष्टि सब कुछ समतापूर्वक सहता है, इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि उद्विग्न हो जाता है और कभी-कभी भावावेश में हत्या, आत्महत्या-जैसे जघन्य कृत्य भी कर बैठता है। प्रमाद मिथ्यात्व की उर्वर भूमि है, ये दोनों साथ रहते हैं। विवेक और ध्यान (आवधान) से इस पर विजय मिल सकती है। माथे में केवल शास्त्रों का बोझ ढोने से मिथ्या-प्रमाद को नहीं मिटाया जा सकता।

जो धारण किया जाता है या जो धारण करता है, जो जीव के लिए अभ्युदय और निःश्रेयस का साधक है, जो वस्तु का स्वभाव है और अध्यात्म की बाड़ी है, ऐसे उदात्त धर्म की मिथ्यातियों के हाथ में पड़कर दुर्गति हो जाती है, वह निर्जीव हो जाता है। वह मनुष्यों को परस्पर जोड़ने के बदले तोड़ने वाला बन जाता है। वर्तमान में प्रदर्शन, रूढ़ियाँ, कर्मकाण्ड, आडम्बर, विचारों की संकीर्णता, आग्रह ही धार्मिकता के मापदण्ड या रूप माने जाने लगे हैं। नयी पीढ़ी के युवक-युवतियों पर इसका विपरीत और विषाक्त प्रभाव पड़ता है और वे घुटन और भटकन की स्थिति में आ जाते हैं। उनमें धर्म के प्रति जो अरुचि दिखायी देती है, उसका एक कारण धर्म के इन मिथ्याभिमानियों का दुरंगा मुखौटा भी है। जो स्वयं मार्ग नहीं जानता या जिसकी अपनी आँखें नहीं हैं, वह दूसरे को सही मार्ग पर कैसे ले चला पायेगा?

गृहस्थ, पण्डित या साधु, जिसे भी मिथ्यात्व ग्रस लेता है, उसे अपने ज्ञान और चारित्र्य का अभिमान हो जाता है और तब उसका पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। यह एक अनुभूत तथ्य है कि सम्यग्ज्ञानी आशावादी होता है और मिथ्याती दुराशावादी होता है। 'सम्यक्त्व : प्रकृत मनःस्थिति' शीर्षक लेख में मैंने सम्यक्त्व के विरोधी दोषों का सविस्तार उल्लेख किया था, उसे यहाँ फिर दुहराना अनावश्यक है; अतः स्मृति के लिए यहाँ उनका संकेत मात्र पर्याप्त होगा। तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, छह अनायतन, शांकादि चार का होना और स्थितिकरण आदि चार का अभाव ये सम्यक्त्व के बाधक और मिथ्यात्व के पोषक २५ दोष हैं।

मिथ्या दृष्टि बे ठिकाना और असम्भव बात को भी सच और सही मानता है। अज्ञ का सर्वज्ञ होने का स्वाँग करना, शब्दों के उच्चारण से विष उतारना, पानी

पर स्थल की तरह चलना, आकाश से फूल बरसाना आदि बन्ध्यापुत्र-के-राज्याभिषेक-जैसी अनेक असम्भव बातों में भी मिथ्यादृष्टि विश्वास करने लगता है। वीतराग देव की पूजा, स्तुति आदि को भी सराग देवों के समान भौतिक प्रेम का दाता मानकर उनकी मनौती आदि का अनुष्ठान करता है और इस प्रकार मिथ्यात्व का प्रचार करता है। मिथ्यात्व के प्रमुख दो कारण—अज्ञान और निहित स्वार्थ हैं। अज्ञानी अपने ज्ञान में आयी बात को एकान्त सही मानता है, पर ज्ञानी उसे अनेकान्त की दृष्टि से देखता और कहता है। अज्ञानी-मिथ्याती अग्रही होता है; परन्तु सम्यग्ज्ञानी अनाग्रही होता है। वह किसी बात को 'ऐसा ही है' न कह कर 'ऐसा भी है' कहता है।

मिथ्याती देहात्मवादी होता है वह देह, गेह, दारा, पुत्र, धन, सम्पत्ति, विपत्ति, रोग, शोक, लाभ, हानि आदि को स्व, स्वयं या स्वयं का मानता है। ऐहिक उपलब्धियों को ही वास्तविक उपलब्धि मानता है और उन्हीं के संग्रह-परिग्रह के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करता रहता है। वह भेद-विज्ञान की बातें तो करता है; परन्तु उसमें उसकी आस्था नहीं होती। जिसके जीवन में, या विचारों में मौलिक सिद्धान्त की अवहेलना, अर्थ और तर्क प्रधान दृष्टि, स्वार्थ, अकर्मण्यता तथा एकांगी न्याय आ जाता है, वह पथ-भ्रष्ट हो कर गन्तव्य की विपरीत दिशा में चला जाता है।

मिथ्याती जीव पुण्यानुबन्धि जैन पूजा, पाठ आदि को भौतिक उपलब्धियों का साधन मान कर उन्हें दीनता-पूर्ण याचना और भिखमंगी के स्तर पर ला देता है। वस्तुतः तीर्थंकरों, आप्तजनों, आदर्श पुरुषों आदि की पूजा, वन्दना उनके गुणों को हृदयंगम कर उन्हें अपने जीवन में उतारते हुए उन (आप्तादि) के जैसा और उनके गुणों से सम्पन्न होने की कला या शिक्षा के अप्रतिम साधन और माध्यम हैं। आज नेता, पण्डित, साधु, साधारण श्रावक आदि सभी विज्ञापनों और प्रदर्शनों में रुचि ले रहे हैं और तीर्थों, मंदिरों आदि को और उनकी सम्पत्ति को ले कर कलह, वैमनस्य आदि का बीजारोपण करते हैं। इनके कारण स्वयं जैनों का सिर फोड़ने में भी उन्हें धार्मिकता की गन्ध आती है। अभी कुछ ही वर्षों में जैनों में जो घटित हुआ है, वह मिथ्यात्व का ज्वलन्त उदाहरण है, उनके धवल यश पर कलंक का धब्बा है और सारे समाज का सिर नीचा करने वाला है।

मिथ्यात्व के कारण आचार में भी शिथिलता आ जाती है। अपनी कर्तव्य-च्युति या कर्तव्याघात पर औचित्य का पर्दा डालने के लिए साधारणतः लोग कह देते हैं कि यह तो काल-दोष है। तीर्थंकरों, सर्वज्ञों, आप्तों आदि ने भी कहा है कि पंचमकाल (कलिकाल) में धर्म और धार्मिकता में कमी आ जाएगी और लोग स्वेच्छा-चारी हो जाएंगे। ये बातें स्व-पर-वंचना की हैं, अपने प्रमाद को आप्त-वाणी की (शेष पृष्ठ ४४ पर)

अभी कुछ अधिक नहीं बिगड़ा है

बच्चे के शैशवकालीन संस्कारों में अब कोई स्थान नहीं है बड़ों के पांव छू कर उन्हें प्रणाम करने का, परम्परागत देवी-देवताओं के सम्मुख माथा टेकने का, परम्परा से मिले हुए शुद्ध सात्त्विक भोजन करने का, सादा रहन-सहन रखते हुए भित्तव्ययी होने का, समाज के नैतिक जीवन-मूल्यों के प्रति आदर रखने का और प्रकृति में मुक्त विचरते जीव-जन्तुओं तथा लहलहाती वनस्पतियों के प्रति करुणा, प्रेम, दया करने का। अब तो उनके संस्कारों में दिखावे, अहम्मन्यता, आक्रामकता, स्वार्थपरता, तामसिकता, धर्म और उसके मूल्यों के प्रति अनास्था, जीव-जन्तुओं के प्रति संवेदनहीनता, क्रूरता आदि का समावेश हो गया है।

— डॉ. प्रद्युम्न कुमार

सर्वत्र व्याप्त लूटमार, हिंसा, भ्रष्टाचार, पर्यावरण-विनाश आदि-आदि अन्त-हीन समस्याओं से हम चिन्तित हैं। उनके लिए यत्र-तत्र क्रदम भी उठाये जा रहे हैं, निवारण के उपाय भी सोचे जा रहे हैं; परन्तु नतीजा वही है—ढाक के तीन पात। समस्याएँ निरन्तर वृद्धिगत हैं। समस्याओं के निवारणार्थ किये गये हमारे सारे सोच और उठाये गये क्रदमों के बावजूद हम बुनियादी चिन्तन से अब भी दूर हैं; फिर व्यवस्था में बुनियादी फेर-बदल करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। बुनियादी बात यह है कि हमारे व्यक्तिगत और समूहगत जीवन के जीने का आधार ही अपना न हो कर पराया हो गया है। हम अपना सांस्कृतिक-ऐतिहासिक चिन्तन छोड़ कर विदेशी हाथों में बिक गये हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी बिकते जा रहे हैं।

अपने बच्चे के ढाई-तीन वर्ष का होते ही माँ-बाप इस चिन्ता के शिकार हो जाते हैं कि उसे यथासामर्थ्य किसी अंग्रेजी-माध्यम वाले स्कूल में भरती कैसे करें, ताकि वह उस स्कूल-से-प्राप्त संस्कारों से विदेशी जीवन-शैली की तर्ज पर 'डैडी' 'मम्मी' कह कर अंग्रेजी कविताएँ सुना कर अपना और अपने परिवार का सिर गर्व से ऊँचा कर सके। इस विदेशी तर्ज की बढ़ती माँग के तहत प्रत्येक शहर, कस्बा, यहाँ तक कि अब गाँव-गाँव में अंग्रेजी-शैली के नर्सरी और प्राइमरी स्कूलों की बाढ़-सी आ गयी है। बच्चे के शैशवकालीन संस्कारों में अब कोई स्थान नहीं है बड़ों के पैर छू कर उन्हें प्रणाम करने का, परम्परागत देवी-देवताओं के समक्ष माथा टेकने का, परम्परा से मिले हुए शुद्ध सात्त्विक भोजन करने का सादा रहन-सहन रखते हुए अल्पव्ययी होने का, समाज के नैतिक जीवन-मूल्यों के प्रति आदर-भाव का और प्रकृति में मुक्त विचरते जीव-जन्तुओं और लहलहाती वनस्पतियों के प्रति करुणा, प्रेम, दया करने का। अब तो उनके संस्कारों में दिखावे, अहम्मन्यता, आक्रामकता, स्वार्थपरता, तामसिकता, धर्म और उसके मूल्यों के प्रति अनास्था, जीव-जन्तुओं

प्रति संवेदनहीनता, क्रूरता, वानस्पतिक पर्यावरण के प्रति जड़ता आदि भावों और अभिवृत्तियों का समावेश है। फिर इन शैशवकालीन संस्कारों का पुष्टिकरण होता है बच्चे की आगे की स्कूलिंग-प्रक्रिया में।

स्कूलिंग-अवधि के पाठ्यक्रम में कहीं भी कोई सांस्कृतिक स्पर्श नहीं है। स्कूली पाठ्यक्रम के मुख्यतः तीन वर्ग हैं—भाषा और साहित्य, सामाजिक विषय तथा प्राकृतिक विज्ञान। सरसरी तौर पर देखने से किसी भी विषय, की पाठ्यपुस्तक में भारतीय संस्कृति से जुड़े विचारकों और लेखकों के प्रतिपादित सिद्धान्त और उन पर आधारित उद्धरण नहीं मिलेंगे। उनमें पाइथागोरस, प्लेटो, अरस्तू, यूक्लिड, हिप्पो-क्रेटिस, देकार्त, लाइब्नीट्ज़, न्यूटन, कार्पनिक्स, कांट, हीगेल, मार्क्स, एडमस्मिथ, मिल प्रभृति विचारकों के उद्धरण तो धड़ल्ले से मिलेंगे, किन्तु भारतीय विचारक जैसे—भास्कर, कपिल, कौटिल्य, पाणिनि, नागार्जुन, शंकर, हेमचन्द्र, सोमदेव, नेमिचन्द्र, धर्मकीर्ति, अकलंक, सुश्रुत, भृगु आदि का नामोल्लेख कहीं नहीं मिलेगा। इस सांस्कृतिक पक्षपात का सीधा नतीजा है कि स्कूल की संस्कृति विदेशी संस्कारों से ओत-प्रोत हुई है और बच्चे उन्हीं संस्कारों को ग्रहण कर रहे हैं।

एडम स्मिथ द्वारा सृजित अर्थशास्त्र जो विद्यालयों में प्रमुखतः पढ़ाया जाता है और जिसकी गौरव-गाथा बच्चों के गले उतारी जाती है, का मूलाधार मानवीय लिप्सा है। अर्थशास्त्रीय चिन्तन में जीवन का लक्ष्य है भौतिक सम्पत्ति का अर्जन, ताकि उससे ज्यामिति की गति से उत्पन्न होती हुई आवश्यकताएँ तृप्तायी जा सकें और तृप्तिजनित सुख अर्जाया जा सके और रहन-सहन का दर्जा ऊँचा किया जा सके। इस प्रकार अधिक-से-अधिक सुख अर्जने के लिए अधिकाधिक आवश्यकताएँ बढ़ाते जाने का बहाना है। 'आवश्यकता-वृद्धि' का तात्पर्य है लिप्सा-वृद्धि, तृष्णा-वृद्धि। इस लिप्सा-वृद्धि में नित-नये आयाम जोड़ने की होड़ लगी हुई है मार्केटिंग तकनीक से विज्ञापनों के नये-नये प्रभावी रूपाकार सृजते हुए हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुख की मृग-मरीचिका सहेजने में लगे हुए हैं; किन्तु हमें सुख की जगह मिल क्या रहा है? मिल रहा है तनाव, द्वन्द्व और भागमभाग। आज की तनावग्रस्त सभ्यता बस भाग रही है और उत्तेजनाओं में हाँफती हुई रम रही है। तनाव और द्वन्द्व में सुख की खोज करते-करते आज का आदमी सिर्फ पागलपन की खोज कर रहा है। सुख हर कदम पर चार कोस आगे खड़ा हुआ दिखायी पड़ता है। आधुनिक तर्कशास्त्रीय चिन्तन हमें किस भीषण विभीषिका में धकेले लिये जा रहा है इसका तनिक भी संकेत अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम में नहीं दिखायी पड़ता। आज आदमी और उसकी भावनाएँ केवल बिकाऊ सौदे से अधिक कुछ नहीं हैं। यह सब कुछ आज के अर्थशास्त्र की देन है, जिसे हम अपने बच्चों को पाठ्यक्रम के द्वारा पढ़ा रहे हैं।

अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य सामाजिक विज्ञान जैसे समाजशास्त्र, राजनाति-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि की पाठ्यपुस्तकों में हीगेल, मार्क्स, फ्रायड, वाटसन के सिद्धान्त ही प्रधान हैं, जिनकी दृष्टियाँ स्थूल सत्य के आगे-का-सत्य नहीं देखतीं; उन्होंने जड़ भूतों को प्रधानता प्रदान की है और आत्मा के अस्तित्व को सर्वथा नकार दिया है। जब जड़ भूत ही सब कुछ है तब उन्हीं का आचार-व्यवहार एक मात्र सत्य बना; जिसके आधार पर 'खाओ, पियो, मौज करो' का दर्शन ही सार्थक दर्शन दिखायी पड़ा; फिर भला सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों का महत्त्व कैसे हो सकता है? बच्चों के लिए यह सब निरर्थक बकवास के अलावा और कुछ नहीं है बुद्ध, महावीर, शंकर, नानक, कबीर, गाँधी जैसे विश्व-गुरुओं के समाज और मनुष्य के बारे में किये गये अध्ययन इन पाठ्यपुस्तक-लेखकों के लिए कोई महत्त्व की चीज नहीं हैं; क्योंकि इनके अध्ययनों से तामसी और राजसी प्रवृत्तियों की अपेक्षा सात्त्विक प्रवृत्तियों का विकास अधिक होता है जो इन लेखकों के लिए दक्रियानुसी चीज है भौतिक लिप्साओं को गरिमा-मण्डित करना और पराभौतिक सूक्ष्म अनुभूतियों की खिल्ली उड़ाना आज का फैशन हो गया है।

प्राकृतिक और भौतिक विज्ञानों के पाठ्यक्रमों में भी केवल स्थूल अनुभवों का ही बोलबाला है। जीव-विज्ञान के शिखर शास्ता डाबिन और लेमार्क ने सम्पूर्ण जीव-जगत् को शारीरिक विकासवाद की तुला पर रख कर परखा। मनुष्य-सहित सभी जीव उनके अनुसार वातावरण में केवल अपने शरीर और सन्तति को जीवित रखने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। जो जीव शारीरिक दृष्टि से योग्यतम है उसे ही प्रकृति में जीने का अधिकार है। अयोग्य शरीर-धारियों को प्रकृति निर्ममतापूर्वक मार देती है। प्रकृति के क्षेत्र में करुणा और वात्सल्य नाम की कोई चीज नहीं है। जीव-विज्ञान के पाठ्यक्रम में कहीं भी जीवों पर दया और करुणा करने का पाठ नहीं पढ़ाया जाता बल्कि उल्टे जीवविज्ञान की प्रयोगशालाओं में मेंढकों, खरगोशों, सरीसृपों आदि सभी जीवों की ज्ञानवृद्धि के नाम पर निर्ममतापूर्वक हत्याएँ करने को उकसाया जाता है और इन हत्याकाण्डों के आधार पर छात्रों को अंक दिये जाते हैं। कहीं भी इन हत्याओं के लिए औपचारिक रूप में अफसोस व्यक्त नहीं किया जाता। जीवों के जीवत्व का ऐसा घोर अनादर ही आज की शिक्षा का मेरुदण्ड है। जीवों और वनस्पतियों के प्रति संवेदनशीलता का पाठ कहीं भूले से भी नहीं पढ़ाया जाता। ऐसे संस्कारों को ले कर जब आज के बच्चे कल वयस्क बनते हैं तो क्या उनसे पर्यावरण-सुरक्षा की अपेक्षा की जा सकती है?

भौतिक विज्ञानों में तो स्पष्टतः जड़ पदार्थों का ही अध्ययन है; किन्तु जड़ पदार्थ चेतन से विलग कहीं हैं? हर-एक जड़ पदार्थ में चेतन तत्त्व कुलबुलाता मिलता है। जड़ प्रकृति की सारी क्रिया चेतन पुरुष के निमित्त होती है। शरीर

से चेतन तत्त्व के निकलते ही शरीर का विकास रुक जाता है। वह मृत घोषित हो जाता है। बिना चेतन तत्त्व के अध्ययन के जड़ तत्त्वों का अध्ययन अधूरा है; किन्तु मजा यह है कि भौतिक विज्ञान के विद्यार्थियों को चेतन की हवा भी नहीं लगने दी जाती। भारतीय सांख्य दर्शन का प्रकृति-विकास चेतन पुरुष के संसर्ग के बिना समझा ही नहीं जा सकता। विज्ञान के पाठ्यक्रमों में इस द्वित्व का उल्लेख करना भी वाजिब नहीं समझा जाता। जैनदर्शन का पदार्थवाद पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल, की व्याख्या में आधुनिक सारे विद्वानों को पीछे छोड़े हुए हैं; परन्तु इस सब का उल्लेख आज किसी पाठ्यपुस्तक में नहीं मिलता। शायद डर है कि कहीं बच्चों को भारतीय मनीषा के सात्त्विक संस्कारों का चस्का न लग जाए, जिससे उन के अन्दर त्याग और वैराग्य के भाव वृद्धिगत होने लगे और वे पश्चिमी व्यवसायियों के अर्थशास्त्रीय शोषण से बच निकलें। आज के स्थूलवादी नास्तिक पाठ्यक्रमों का ही वह प्रभाव है कि स्कूल-कॉलेजों से निकले हुए बच्चे और नव-युवक आस्थाहीन, संवेदनहीन, भौतिक लिप्साओं से ओत-प्रोत महत्वाकांक्षी, आक्रामक, हिंसक जैसे तामसिक संस्कारों की दीक्षा से मण्डित होते हैं। वैज्ञानिक सोच ने यही दीक्षा दी है कि जो कुछ स्थूल इन्द्रियों के अनुभव में आता है वही प्रामाणिक सत्य है, शेष सब कुछ अप्रामाणिक और झूठ है। अतीन्द्रिय ज्ञान का बखान करने वाले सारे आगम-ग्रन्थ झूठ का पुलिदा हैं, अतः त्याज्य हैं। विज्ञान की इस दृष्टि ने सम्पूर्ण शिक्षित पीढ़ी को नास्तिक बना कर परम्परा के प्रति बागी बना दिया है। अपने इतिहास और साहित्य को वे अनादर की निगाहों से देखने लगे हैं।

इस अनादर का दूसरा दुष्परिणाम यह निकला कि भारतीय साहित्य, इतिहास, और धर्म को अभिव्यक्ति देने वाली संस्कृत, हिन्दी, तथा अन्य सारी प्रादेशिक भाषाएँ अंग्रेजी की तुलना में हेय हो गयीं। अंग्रेजी भाषा साहित्य, रहन-सहन, तर्कविधि, विचार-विनिमय, आचार-व्यवहार सब कुछ हमारे लिए अनुकरणीय हो गया और होता ही जा रहा है। भारतीय भाषा और विद्या सब कुछ श्रेष्ठता लिये हुए भी विदेशी भाषा और विद्या की तुलना में हेय है। अब, वास्तव में, मैकाले का स्वप्न साकार हो रहा है जो कहता था कि इस देश की भाषा और इतिहास को बदल दो तो वह स्वतः चिरयुग तक अंग्रेजों का गुलाम रहेगा। वही आज हो रहा है। हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी अंग्रेजों के गुलाम बने रहने को अभिशप्त हैं। इस गुलामी के प्रति हमारे भीतर से कोई विरोध का स्वर भी मुखरित नहीं है। इन्हीं दूषित पाठ्यक्रमों और पुस्तकों के आधार पर दी गयी शिक्षा से नवशिक्षितों के मन में न कोई नैतिक मूल्य है, न आदर है किसी भी जीव के जीवत्व के लिए। ये अपना उल्लू सीधा करने के लिए हर काम करने को तैयार हैं। झूठ, चोरी,

दगाबाजी, हिंसा, व्यभिचार जो कभी पाप की श्रेणी में गिने जाते थे, जिन्हें करने में मनुष्य अपराधी अंतःकरण महसूसता था, अब खुले आम करते हुए सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। बल्कि जो व्यक्ति यह पाप अब नहीं करता, उसे पिछड़ा हुआ माना जाता है और सम्य समाज में उसकी उपेक्षा होती है। ऐसी स्थिति में देश का भविष्य क्या होना है, यह सोच कर ही दिल दहल जाता है।

नयी शिक्षा-नीति के तहत इसी चिन्ता से निबटने के लिए कुछ नये पाठ्य-क्रम प्रारम्भ करने का सुझाव है। ये पाठ्यक्रम हैं : पर्यावरण-शिक्षा, नैतिक शिक्षा, समाजोपयोगी उत्पादक कार्य, व्यावसायिक शिक्षा, समाज-सेवा आदि देखने की बात है, क्या इन पाठ्यक्रमों को और लाद देने से समस्या का हल निकल आयेगा ? वस्तुतः समस्याएँ पैदा हुई दोषपूर्ण पाठ्यक्रमों को लागू करने से। तो यदि लागू पाठ्यक्रमों के दोष दूर न कर, दूसरे नये पाठ्यक्रम लागू कर दिये गये, तो उसका मतलब यही हुआ कि समस्याएँ पैदा होने दो और तब उन्हें निपटाने के कदम उठाओ। क्या इससे समय, साधन और शक्ति का अपव्यय नहीं होता है ? इन नये पाठ्यक्रमों की सारी शिक्षा पिछले पाठ्यक्रमों की रचना में सुधार से पूरी की जा सकती थी। इन्हें अलग से लागू करना कितना व्यावहारिक है ? उदाहरणार्थ-कक्षा में मेंढक आदि कटते रहें और बच्चों को कसाई बनाना जारी रहे, और पर्यावरण-सुरक्षा के जरिए जीवों के प्रति दया-ममता का पाठ पढ़ाया जाए। सोचिये यह कितना व्यावहारिक है ?

इसी प्रकार अर्थशास्त्र में लिप्सा-वृद्धि, साधन-संग्रह को गरिमा-मण्डित किया जाता रहे और नैतिक शिक्षा के जरिये त्याग और परोपकार का उपदेश पढ़ाया जाए। विज्ञान में ईश्वर के अस्तित्व को नकार कर राक्षसी वृत्तियों को मनुष्य या जीवों का स्वभाव बताया जाए और धार्मिक शिक्षा में ईश्वर और तात्त्विक वृत्तियों का गुणगान किया जाए। क्या यह सब हमारी शिक्षा की आत्मविरोधी वाचालता मात्र नहीं है ? क्या इस सबसे कुछ शुभ होने वाला है। क्या यह व्यावहारिक है ? क्या यह सब कुछ हमारे शिक्षाविदों के मस्तिष्क का दिवालियापन प्रमाणित नहीं कर रहा है ? इन सारे प्रश्नों पर गंभीरतापूर्वक सोचने की जरूरत है। अभी कुछ अधिक नहीं बिगड़ा है; परिस्थिति में अपेक्षित सुधार करने के लिए सही और आवश्यक कदम उठाये जा सकते हैं। □□

तू 'भेरी-भेरी' करता है और अपनी आत्मा को आकुलता की आग में झोंकता हुआ भ्रमण करता है। जिस प्रकार जल-का-बबूला देखते-देखते बिलीन हो जाता है, ठीक उसी प्रकार यह तेरा तमाम परिग्रह भी क्षण-भर में बिलीन हो जाने वाला है।

—विनयविजयजी

'तीर्थकर' के दुर्लभ और संकलनीय विशेषांक

१. मुनिश्री विद्यानन्द (अप्रैल, ७४) (सजिल्द फाइल में)	३०.००
२. श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर (जून-जुलाई, ७५) (सजिल्द फाइल में)	३०.००
३. मुनिश्री चौधमल जन्म-शताब्दि (नव.-दिस., ७७)	१०.००
४. आचार्य श्री विद्यासागर (नव.-दिस., ७८; सजिल्द फाइल में)	३०.००
५. साध्वीश्री विचक्षणश्री (फर.-मार्च, ७८) (सजिल्द फाइल में)	३०.००
६. पं. नाथूलाल शास्त्री (जून, ७८)	१०.००
७. गोम्मटेश्वर (महामस्ताभिषेक, फर., ८१)	१०.००
८. जैन पत्र-पत्रिकाएँ (अग.-सित., ७७)	२०.००
९. चीर निर्वाण-चयनिका (दिस., ७६)	१०.००
१०. णमोकार मन्त्र खण्ड-१ (नव.-दिस., ८०)	१५.००
११. णमोकार मन्त्र खण्ड-२ (जनवरी, ८१)	१५.००
(णमोकार के दोनों विशेषांक सजिल्द सुलभ)	३५.००
१२. भक्तामर स्तोत्र (जनवरी, ८२)	२१.००
१३. जैन भूगोल (अगस्त, ८२) (सजिल्द फाइल में)	३०.००
१४. श्रीमहावीर-तीर्थ (नवम्बर, ८२)	१०.००
१५. जैन ध्यान/जैन योग (अप्रैल, ८३)	१५.००
१६. समाज-सेवा (नव. दिस., ८३)	१५.००
१७. प्रतिक्रमण-सामायिक (अक्टू.-नव. ८४)	२०.००
१८. प्रतिक्रमण शेषांक (दिसम्बर, ८४)	५.००
१९. सामायिक शेषांक (जनवरी, ८५)	५.००
२०. श्रावकाचार-विशेषांक (मार्च-अप्रैल, ८५)	१५.००
२१. आहार-अंक (जून-जुलाई, ८५)	६.००
२२. पूजा-विशेषांक (अगस्त-सितम्बर, ८५)	१०.००
२३. जैन जैविकी विशेषांक (फरवरी-मार्च, ८६)	१०.००
२४. उपवास-अंक (मई, ८६)	४.००
२५. जैन भौतिकी विशेषांक (अगस्त-सितम्बर, ८६)	१०.००
२६. टोना-टोटका/जंतर-मंतर विशेषांक (फरवरी-अप्रैल, ८७)	१५.००
२७. आचार्य लघुविशेषांक (जुलाई-अगस्त, ८७)	५.००
२८. साधुमार्ग (विशेषांक (सित. अक्टू., ८७)	१५.००

विशेषांकों के संपूर्ण सेट का मूल्य सजिल्द फाइलों के साथ रु. ४५०.००; सजिल्द फाइलों के बगैर रु. ३००.०० □ रजिस्ट्री चार्ज एक विशेषांक पर रु. ५/-, अतिरिक्त विशेषांक पर रु. १/-०० □ बी.पी.पी. नहीं की जाएगी □ अग्रिम मूल्य मनीऑर्डर/बैंक ड्राफ्ट 'तीर्थकर' के नाम से भेजिये।

प्रबन्ध सम्पादक, तीर्थकर; पत्रकार कालोनी, इन्दौर-४५२००१ मध्यप्रदेश

द्वेष : स्वरूप एवं व्यक्तित्व

जो दूषित करे वह 'दोष' है। प्रीति के न होने को 'द्वेष' कहते हैं। दूसरों के दोषों को कहना 'परिवाद' है। जो सच्चे धर्म से जवा करे वह 'मत्सर' है। दूसरे के गणों को न सह सकना 'असूया' है। आपस में मार-पीट होने से उत्पन्न हुए क्रोध से जो भाव पैदा होता है वह 'बैर' है। शान्त हुई क्रोधाग्नि को भकाना 'प्रचण्डन' है।

—डॉ. हरीन्द्र भूषण

'द्वेष' कषाय की एक विशेष परिणति है; अतः जैन दर्शन में इसे चारित्र्य मोहनीय का एक भेद बताया गया है, इसी कारण कर्म-बन्धन में इसकी विशेष भूमिका है। राग के साथ इसका घनिष्ठ संबन्ध है। यही कारण है कि ये दोनों मिल कर प्राणी को संसार-सागर में डुबोये रखते हैं। जब आत्मा राग-द्वेष से पूर्णतया रहित अर्थात् वीतराग हो जाता है तब वह 'सिद्ध अवस्था' को प्राप्त करता है।

ऐसे सिद्धावस्था-संपन्न व्यक्तित्व की 'आप्त' या 'जिन' संज्ञा है। आचार्य समन्त भद्र ने 'आप्त' की परिभाषा करते हुए कहा है—'न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते'^१ अर्थात् जिसके राग, द्वेष एवं मोह नहीं है वह आप्त कहलाता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'जिन' शब्द का निरुक्त करते हुए कहा है—'रागद्वेषजेतारो जिनाः'^२ अर्थात् राग-द्वेष को जीतने वाले जिन कहे जाते हैं।

द्वेष का स्वरूप

अ-प्रीति अर्थवाली 'द्विष्' धातु से करण एवं भाव में घञ् प्रत्यय हो कर द्वेष शब्द बनता है, जिसका अर्थ है द्वेष वेदनीय (मोहनीय) कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला अप्रीतिरूप परिणाम।^३

आचार्य अभयदेव सूरि ने द्वेष की परिभाषा इस प्रकार की है—'द्वेषः अनभिव्यक्त-क्रोध-मान-व्यक्तिकमप्रीतिमात्रम्' अर्थात् अनभिव्यक्त क्रोध तथा मान की अप्रीतिमात्र रूप अभिव्यक्त को द्वेष कहते हैं।

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार १०६ ।

२. प्रशमरतिप्रकरण-१ पर हरिभद्र-टीका ।

३. 'द्विष्यतेऽनेनेति द्वेषः द्वेषवेदनीयं कर्म, आत्मनः क्वचिदप्रीति-परिणामापादनात् । द्वेषणं द्वेषः द्वेष वेदनीय कर्मापादितो भावोऽप्रीतिपरिणाम एव'—'पञ्चसूत्रवृत्ति', हरिभद्रसूरि पृ. १ ।

४. औपपातिक सूत्रवृत्ति, २-२२, पृ. १२६ ।

‘गीता’ में ‘स्थितप्रज्ञ’ की परिभाषा है—

“यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥”^१

“यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचयति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥”^२

इनमें हमें स्पष्टरूप से राग-द्वेष के लक्षण दिखायी देते हैं, अर्थात् शुभवस्तु में अभिनन्दन या हर्ष राग तथा अशुभवस्तु में अप्रीति द्वेष है ।

राग और द्वेष का अविनाभाव संबन्ध—

राग और द्वेष—दोनों का अविनाभावी संबन्ध माना गया है, अर्थात् राग के बिना द्वेष की और द्वेष के बिना राग की स्थिति संभव नहीं है । परस्पर-विरुद्ध होते हुए भी ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । राग प्रीतिरूप होता है तो द्वेष अप्रीतिरूप ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने राग और द्वेष, दोनों को कर्मबन्ध का कारण माना है—

“मोहो रागो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि ।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥”

उक्त गीता की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि चारित्र्य मोहनीय कर्म के विपाक से प्रीति रूप भाव राग तथा अप्रीतिरूप भाव द्वेष है ।^३ एक दूसरे टीकाकार आचार्य जयसेन ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहा है—

“इष्टानिष्ट विषये प्रीत्यप्रीतिपरिणामौ रागद्वेषौ भण्येते”

अर्थात् इष्ट पदार्थों में प्रीति एवं अनिष्ट पदार्थों में अप्रीतिरूप भाव क्रमशः राग एवं द्वेष कहे जाते हैं ।^४

१. श्रीमद्भगवद्गीता २-५७ ।

२. वही १२-१७ ।

३. पंचास्तिकाय-१३१ पर ‘तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति’—“विचित्रचारित्र्य-मोहनीय विपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ” ।

४. पंचास्तिकाय-१३१ पर ‘तात्पर्यवृत्ति’ ।

२६/तीर्थकर : अगस्त ८८

भारतीय दर्शन में भी राग-द्वेष का प्रायः साथ-साथ ग्रहण हुआ है। 'गीता' ने प्रायः राग-द्वेष का एक साथ वर्णन किया है।^१

राग और द्वेष, दोनों का ऐसा अविनाभाव संबन्ध है कि यदि कहीं केवल राग का ग्रहण किया गया हो तो उससे द्वेष का ग्रहण या बोध, अपनेआप हो जाता है, इसी प्रकार केवल द्वेष से राग का; इसीलिए 'वीतराग' का अर्थ 'वीत-द्वेष' भी होता है।

द्वेष का परिवार

आचार्य उमास्वाति ने द्वेष के नौ पर्यायवाची शब्द बताये हैं जिन्हें हम द्वेष का परिवार कह सकते हैं—

ईर्ष्या रोषो दोषो द्वेषः परिव्यादमत्सरसूयाः ।

वैरप्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्यायाः ॥^२

अर्थात् ईर्ष्या, रोष, दोष, द्वेष, परिव्याद, मत्सर, असूया, वैर, प्रचण्डन आदि अनेक द्वेष के पर्याय शब्द हैं।

'शब्दभेदादर्थभेदः' काव्य के इस सिद्धान्त के अनुसार ईर्ष्या, रोष आदि, द्वेष के पर्याय-शब्द होते हुए भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व अवश्य रखते हैं। यहाँ हम आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार उक्त सभी शब्दों की परिभाषा दे रहे हैं।

दूसरे की सम्पत्ति वमैरह को देख कर मन में जो ऐसा भाव होता है कि इसकी यह सम्पत्ति नष्ट हो जाए, केवल मेरे पास ही सम्पत्ति रहे, अन्य किसी के पास सम्पत्ति न रहे, उस भाव को 'ईर्ष्या' कहते हैं।

दूसरे के सौभाग्य, रूप, लोकप्रियता आदि को देख कर जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसे 'रोष' कहते हैं।

जो दूषित करे वह 'दोष' है। प्रीति के न होने को 'द्वेष' कहते हैं। दूसरों के दोषों को कहना 'परिव्याद' है। जो सच्चे धर्म से पृथक् करे वह 'मत्सर' है। दूसरे के गुणों को न सह सकना 'असूया' है। आपस में मार-पीट होने से उत्पन्न हुए क्रोध से जो भाव पैदा होता है वह 'वैर' है। शान्त हुई क्रोधाग्नि को भड़काना 'प्रचण्डन' है।

१. "रागद्वेष वियुक्तस्तु विषयानिन्द्रयैश्चरन्" श्रीमद्भगवद् गीता २.६४।

"इन्द्रियस्मेन्द्रियार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ" वही ३.३४।

२. 'प्रशमरतिप्रकरण'-१९ तथा उस पर आचार्य हरिभद्र सूरि की टीका।

आचार्य पाणिनि ने कारक-प्रकरण में एक सूत्र दिया है : 'क्रुध-दुहेर्ष्या-सुयानां यं प्रति कोपः'।^१ यहाँ क्रोध, ईर्ष्या, और असूया के साथ एक और द्वेष के परिवार का शब्द है 'द्रोह', जिसका अर्थ पाणिनि ने किया है 'अपकार'।

धवला टीकाकार ने मान, अरति, शोक, जुगुप्सा, और भय—इन पाँच को भी द्वेष के परिवार में सम्मिलित किया है।^२

इस प्रकार द्वेष इस संसार में एक-अकेला नहीं है, प्रत्युत उसका एक विशाल परिवार है।

द्वेष की सेना

आचार्य उमास्वाति ने राग-द्वेष की सेना का वर्णन करते हुए मानो उन्हें राजा की संज्ञा प्राप्त करा दी है; क्योंकि सेना तो राजा के पास ही होती है—

“मिथ्यादृष्ट्यविरमणप्रमादयोगास्तयोर्बलं दृष्टम् ।

तदुषगृहीतावष्टविधकर्मबन्धस्य हेतू ता ॥”^३

अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग ये चार राग और द्वेष की सेना है। इसकी सहायता से वे दोनों, आठ प्रकार के कर्मों के बन्ध के कारण होते हैं। तत्त्वार्थ का श्रद्धान न करना, मिथ्यात्व है। पाप-कार्यों से विरक्ति न होने को अविरति कहते हैं। विषय, इन्द्रिय, निद्रा और विकथा ये चार भेद हैं। यहाँ प्रमाद का अर्थ है विषयादि के सेवन में समय को व्यर्थ गँवाना। मन, वचन और काय की क्रियायोग है।

तत्त्वार्थ सूत्र में 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' कह कर, उक्त मिथ्यादर्शन आदि चार तथा कषाय—इन पाँचों को कर्मबन्ध का कारण कहा है।^४

द्वेष कषायरूप है। वही बन्ध के कारणों में सबसे प्रधान है; अतः आचार्य ने शेष चारों को उसकी सेना के रूप में उपमित कर दिया है।

द्वेष की कषायरूपता

वस्तुतः, राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया एवं लोभरूप कषाय ही हैं। कषाय के मूलतः दो भेद हैं—ममकार एवं अहंकार। 'यह मेरा है' इस प्रकार के ममत्व भाव

१. आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी, सूत्रांक १।४।५७ ।

२. 'क्रोध-मानारति-शोक-जुगुप्सा-भयानि द्वेषः' धवला-पुस्तक—१२, पृ. २८३ ।

३. 'प्रशमरति प्रकरण'—३३ ।

४. 'तत्त्वार्थ सूत्र' ८-१ ।

को 'ममकार' कहते हैं। इसमें माया और लोभ कषाय का ग्रहण होता है। गर्व को 'अहंकार' कहते हैं। यह मान एवं क्रोध कषाय का लक्षण है। ममकार का नाम राग है और अहंकार का नाम द्वेष है।

यदि संक्षेप में कहा जाए तो माया और लोभ की संज्ञा राग है और क्रोध तथा मान की संज्ञा द्वेष है -

“ममकाराहङ्कारावेषां मूलं पदद्वयं भवति ।
 रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्यायः ॥
 मायालोभकषायश्चेत्येतद्द्वारागसंज्ञितं द्वन्द्वम् ।
 क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टेः ॥”^१

शास्त्र शब्द का निरूपण

'शास्' धातु का अर्थ है अनुशासन और 'त्रैङ्' धातु का अर्थ है रक्षा करना। इन्हीं दोनों धातुओं से शास्त्र शब्द का निर्माण हुआ है, अतः जो रागी और द्वेषी मनुष्यों को उत्तम क्षमादिरूप दशलक्षण धर्म का अनुशासन करता है और नरकादि गतियों के शारीरिक और मानसिक दुःखों से उन्हें बचाता है, वह शास्त्र है -

“यस्माद् रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।
 सत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः ॥”^२

अपध्यान, दुःश्रुति और देवमूढ़ता

आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक के अनर्थदण्डविरति नामक गुणव्रत के निरूपण के प्रसंग में 'अपध्यान' एवं 'दुःश्रुति' नामक भेदों में राग-द्वेष की प्रधानता का वर्णन किया है -

“वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद् रागाच्च परकलत्रादेः ।
 आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥”^३

अर्थात् द्वेष के वशीभूत हो कर वध, बन्धन, छेदन आदि तथा राग के वशीभूत हो कर दूसरे की स्त्रियों आदि के संबन्ध में चिन्तन करना अपध्यान है।

“आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः ।
 चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥”^४

१. 'प्रश्नमरति प्रकरण'-३१, ३२ ।

२. -वही - १८७ ।

३. आचार्य समन्तभद्र - 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' ३-३२ ।

४. वही ३-३३ ।

अर्थात् रागद्वेषादि के वशीभूत होकर चित्त को कलुषित करने वाले शास्त्रों का श्रवण करना दुःश्रुति है ।

इसी प्रकार 'देवमूढ़ता' में भी राग-द्वेष को कारण माना गया है—

“वरोपलिप्तयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥”^१

अर्थात् राग-द्वेष से मलिन चित्त व्यक्ति, वर-प्राप्ति की इच्छा से जो देवता की उपासना करता है वह देवमूढ़ता कही जाती है ।

अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्

'गीता' में भगवान् कृष्ण के द्वारा स्पष्टतः कहा है कि मेरा भक्त होने पर भी वह मुझे तभी प्रिय हो सकता है जबकि वह संसार के समस्त प्राणियों के प्रति द्वेषभाव से रहित हो कर क्षमाशील बनता है—

“अद्वेष्टा सर्वभूतानां समदुःखसुखः क्षमी ॥
मय्यपितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥”^२

'मा रूस' 'मा तूस'

'मा रूस' का अर्थ है : राग मत करो तथा 'मा तूस' का अर्थ है : द्वेष मत करो । इन्हीं दो पदों के सतत् उच्चारण से मुनि का नाम 'माणतुष' पड़ गया । ऐसी किंवदन्ती है कि 'माणतुष' मुनिराज को 'मा रूस' 'मा तूस' पदों का उच्चारण करते रहने मात्र से, निर्वाण की प्राप्ति हो गयी ।

इसी कारण जैनधर्म में बहुश्रुत आचार्यों के संसर्ग से प्राप्त श्रुतज्ञान के मद का भी निषेध किया गया है—

“माषतुषोपाख्यानं श्रुतपर्यायि प्ररूपणां चैव ।
श्रुत्वातिविस्मयकरं विकरणं स्थूलभद्रमुनेः ॥
संपर्कोद्यमसुलभं चरणकरणसाधकं श्रुतज्ञानम् ।
लब्ध्वा सर्वमदहरं तेनैव मदः कथं कार्यः ॥”^३

प्रशम-रति से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति

आचार्य उमास्वाति कहते हैं कि 'प्रशम-रति' अर्थात् वैराग्य में प्रीति होने से गृहस्थ एवं मुनि दोनों को स्वर्ग एवं अन्त में अपवर्ग की प्राप्ति होती है—

“इत्येवं प्रशमरतेः फलमिह स्वर्गापिवर्गायोश्च शुभम् ।
सम्प्राप्यतेऽनगारैरगारिभिश्चोत्तरगुणाद्दयैः ॥”^४

आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्रशम का अर्थ किया है—“अरक्तद्विष्टता प्रशमो वैराग्यम्” अर्थात् रागद्वेष के अभाव को प्रशम कहते हैं । इसी का नाम 'वैराग्य' है ।^५

राग और द्वेष ये दोनों संसारी जनों के प्रबल शत्रु हैं । इनसे मुक्ति प्राप्त कर ही प्राणी, निर्वाण के अनन्त सुख को प्राप्त कर सकता है । □

१. र. क. श्वा., १-२३ । २. श्रीमद् भगवद्गीता-अ. १२, श्लोक १३-१४ ।

३. आचार्य उमास्वाति 'प्रशमरति प्रकरण', ६५-६६ । ४. वही ३०६ ।

५. प्रशमरति प्रकरण-१ पर हरिभद्र सूरि की टीका ।

‘समय’ शब्द : कुछ नये आयाम

गणेश ललवानी

भगवान् महावीर जब गौतम से कहते हैं—‘समयं गोयम मा पमायए’—हे गौतम, क्षण-भर के लिए भी प्रमाद न कर, तब यहाँ समय का अर्थ काल से संबन्धित होता है। जैन परिभाषा में भी तो समय को काल की वह इकाई कहा गया है, जिसका विभाजन नहीं हो सकता यानी काल का सूक्ष्मतम अंश है समय।

समय के और भी न जाने कितने अर्थ होते हैं। रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—‘जावार समय हो तो विहंगेर’—यहाँ समय का अर्थ है मृत्युकाल। वीर योद्धा जब उत्साहित हो कर कहता है—यही समय है विजय प्राप्त करने का—तब समय का अर्थ होता है योग्य काल और जब कोई भरी सभा में कहता है—क्या मुझे समय देंगे कुछ कहने का तब यहाँ समय का अर्थ होता है अवसर या मौका। पर ये सब किसी-न-किसी रूप से काल से ही संबन्धित हैं; किन्तु ‘समयसार’ में आचार्य कुन्दकुन्द जब ‘स्व-समय’ की बात करते हैं तब, वहाँ समय का अर्थ होता है आत्मा। स्व-समय यानी आत्मा। कहाँ अजीव तत्त्व—काल, कहाँ जीव तत्त्व—आत्मा। आखिर समय है क्या ?

यहाँ समय को आभिधानिक अर्थ से नहीं, मातृकागत अर्थ से समझना है। कारण, मातृकागत अर्थ ही शब्दों का मूल अर्थ है; अन्य अर्थ तो उससे स्फुरित होता है या उस पर आरोपित होता है।

‘समय’ में तीन अक्षर हैं—स म य। माहेश्वर सूत्र की नन्दिकेश्वर काशिका में ‘स’ को सत्त्वगुण कहा गया है—सकारात् सत्त्व संभूतिरिति। सत्त्वगुण का धर्म है प्रकाश। जो अपने आपको प्रकाशित करता है वह सत्त्वगुण है।

गुण तीन हैं—सत्त्व, रजः, तमः। परये पृथक् तत्त्व नहीं हैं। कारण सत्त्व-गुण अपने को प्रकाशित करता है, रजोगुण के आश्रय से और उसका जो परिणाम है वही है तमोगुण। भाव-से-रूप परिग्रह की यही प्रक्रिया है, माहेश्वर सूत्र है श स ष र्। श रजोगुण, स सतोगुण, ष तमोगुण और इनका परिणाम है र् यानी रूप।

अव्यक्त ब्रह्म जब अपने को व्यक्त करता है, या प्रकाशित करता है तो स के रूप में। उपनिषद् कहता है रसो वै सः। सः ब्रह्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्म रस-रूप है। श्रुति भी कहती है—तस्य भासा सर्वमिहं विभाति—ब्रह्म के तेज से सबकुछ प्रकाशित होता है। यह ‘भासा’ की बात हुई पर ‘भाषा’ में भी सः सर्वनाम है, किसी एक का नाम नहीं जैसे—रामः—सः, हरिः—सः, यदुः—सः। यह सः सविता का परम तेज (भर्गः) है, जिसका गायत्री मन्त्र में ध्यान किया जाता है।

ब्रह्म अव्यक्त है । उसमें जितना प्रकाश है, उतना ही अप्रकाश है । उसमें से रूप बनता है और उसी में समा जाता है; इसीलिए ब्रह्म को जाना नहीं जा सकता । ब्रह्म सर्वथा अनुद्दिष्ट है ।

‘म’ ब्रह्म का अप्रकाश रूप है । ‘म’ व्यंजन वर्ण-माला का अन्तिम वर्ण है । व्योम रूप है, महाशून्य है, महाकाश है । ‘म’ में सब कुछ लय को प्राप्त हो जाता है । ‘स’ सादा है, तो ‘म’ काला । सादे में सब रंग फब जाते हैं, काले में कुछ नहीं फबता । काला सब रंग को सोख लेता है, इसलिए मुनि का रंग काला है । ओम् में जो म है वह भी लयरूप है ।

जहाँ लय होता है, वहीं से प्रारम्भ भी अर्थात् लय में जैसे सम है — सारे गा मा पा धा नि, पुनः सा से दोहराते हैं । जब दोहराते हैं तो म मा हो जाता है । मा ही तो हमें संसार से युक्त करती है । अन्तिम लय तो तब होती है जब म या मा में हम पूर्णतः विलीन हो जाते हैं । तान्त्रिक लोग इस म या मा की साधना करते हैं, जिसे वे महामाया कहते हैं ।

ब्रह्म के लिए सम शब्द का प्रयोग हुआ है । ‘स’ प्रकाश; ‘म’ लय ।

समय का अन्तिम अक्षर है — य । य अन्तःस्थ वर्ण है । न स्वर, न व्यंजन । यहीं भाव और रूप मिलते हैं । अन्तःस्थ वर्ण पाँच हैं—ह य व र ल । माहेश्वर सूत्र है—ह य व र ट् । ल ण् । ह य व र ल को आधा अ इ उस ऋ लृ कहा गया है ।

स्वर ब्रह्म है, तो व्यंजन जगत्; स्वर चेतन है, तो व्यंजन अचेतन जड़ । व्यंजन का उच्चारण बिना स्वर की सहायता से आप नहीं कर सकते । क् में जब अ जुड़ता है, तो क उच्चरित होता है । स्वर में साधना का कुछ है ही नहीं, व्यंजन में साधना करेगा कौन ? कारण, व्यंजन जड़ तत्त्व है । साधना वहीं होती है, जहाँ जड़ और चेतन तत्त्व मिलते हैं । यह मिलन अन्तःस्थ वर्णों में होता है यानी ह य व र ल में । ये बीज हैं, जिनसे पंच भूतात्मक जीव बनता है । अ ब्रह्म है, तो ह शिव (वशी), इ मायामुक्त ईश्वर है, तो य मायायुक्त जीव । य का रंग है उगते हुए सूर्य-सा । य गति का प्रतीक है जिससे या धातु बनता है—अयाति यातः यान्ति । जहाँ गति है वहाँ काल भी है, जहाँ जीव है वहाँ उसका परिणमन भी है । काल का दूसरा नाम है परिणमन; अतः समय से जीवात्मा भी द्योतित होती है, काल भी ।

समय के विभिन्न अक्षरों का मातृकागत अर्थ हमने देख लिया । अब प्रत्येक अक्षर के संघटन-विघटन से क्या अर्थ निकलता है, उसे भी देखें ।

समय से जब हम प्रथम स को अलग करते हैं तब पाते हैं मय । स रजो-युक्त सत्त्वगुण है, भाव है । भाव है तो रूप बनेगा ही । मय होना यानी व्याप्त होना इसीका नाम जगत् है । मय एक दानव का नाम है, जो कि भौतिक समृद्धि का द्योतक है । मय को मैं भी कहा जा सकता है, जो कि अहंकार वाचक है । अब प्रथम दो अक्षरों को लें - सम - य । सम ब्रह्मवाचक है । य जीव-वाचक है, य गति है । जीवात्मा जब सम में स्थित हो कर य यानी अपनी गति को देखने का प्रयास करता है; तब वह साधक बन जाता है । साधक होने से समय की गति उलट जाती है । तब 'समय' 'यमस' हो जाता है । यमस का प्रथम अक्षर य को अलग करें तो पायेंगे मस । य जीवात्मा है, मस परिमिति । साधक जब मस अर्थात् अपनी सीमा या परिमिति का अनुभव करता है तो वह यह भी अनुभव करता है कि वह दुःखी है : उपनिषद् कहता है - नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् - हम सांसारिक सुख की मधु-बिन्दु के लिए अनन्त आनन्द के पारावार से बिछुड़ गये हैं जब यह महसूस होता है; तब उसका प्रयास होता है भूमा में मिलने का ।

यमस के प्रथम दो अक्षर लें - यम - स । यम मृत्यु को कहते हैं । कठो-पनिषद् के 'नचिकेता उपाख्यान' में आता है आत्मज्ञान के लिए नचिकेता यम के द्वार पर गये थे । वास्तव में आत्मज्ञान के लिए यम के द्वार पर जाना ही पड़ता है यानी अपने अहम् (ईगो) को छोड़ना पड़ता है । हिन्दू साधु जब साधक बनता है, तब उसे अपना श्राद्ध करना पड़ता है, संबन्ध-विच्छेद के रूप में नया नाम ग्रहण करना पड़ता है । जैन भी ऐसा ही करते हैं, फिर 'यम' योग के अष्टांगिक मार्ग का एक मार्ग है । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । साधक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को महाव्रत के रूप में ग्रहण कर 'स' जोकि सर्वनाम रूपी ब्रह्म है, वही ब्रह्म बन जाता है ।

समय में जीवन-प्रवाह और इस प्रवाह से उत्तरण का मार्ग दोनों ही समाने हुए हैं ।

समय को आप दाहिने-बायें दोनों ओर से द्रुत उच्चारण करें तो वह होगा सम यम अर्थात् संयम । सम में स्थित रहना और य यानी अपनी गति को म में लीन करना; इसी का नाम भेद-विज्ञान, या सामायिक है । देखें, समय कितना बह्मर्थक है । □

जीवो चरित्तदंसणणाणट्टिउ तं हि ससमयं जाण ।

पुगलकम्मपदेसट्टियं च तं जाण परसमयं ॥ -समयसार/२

जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य में स्थित है, निश्चय से उसे स्व-समय जानो और जो कर्म-के-प्रदेशों-में स्थित है, उसे पर-समय जानो ।

तीर्थंकर : अगस्त ८८/३३

किसी भी परिवार के लिए अपरिहार्य

शाकाहार क्रान्ति

आहार-संबन्धी प्रामाणिक जानकारी
देने वाला द्वैमासिक : वार्षिक शुल्क - बीस रुपये

तीर्थकर

सदाचार और सद्विचार के लिए समर्पित
सत्रह वर्षों से लगातार प्रकाशित मासिक
वार्षिक शुल्क-पैंतीस रुपये

समय

जैन अध्यात्म की सरलतम, अधिकृत, और
परिपूर्ण जानकारी प्रदान करने वाला
अपूर्व त्रैमासिक
वार्षिक शुल्क-पैंतीस रुपये

शुल्क भेजने तथा पत्र-व्यवहार करने
के लिए संपर्क-

प्रबन्धक, हीरा भैया प्रकाशन,
६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर ४५२००१, मध्यप्रदेश

विदेश में : बज रही है अपनी-अपनी ढफली

सम्पादकजी,

इन दिनों मैंने एक नयी आदत बना ली है। खत लिखता हीन हीं हूँ बल्कि यदि कोई सजेस्टिव्ह खत मिल जाता है तो उसे पढ़ने-समझने की कोशिश भी करता हूँ।

५ जुलाई १९८८ के 'जैन प्रकाश' (गुजराती) के पृष्ठ ५-६ पर श्री मगनलाल जेचंद शाह का ओटोरियो (कनाडा) से लिखा एक पत्र छपा है। खत खुला है, गहरा है; अपने चारों ओर कई चिन्ताएँ लपेटे हुए है। पता नहीं कितने लोगों ने इसे पढ़ा-देखा है और कितनों ने नहीं; किन्तु यह सही है कि इसमें जिन मुद्दों को उठाया गया है, वे काफी महत्व के हैं।

खत में कहा गया है कि भारत-से-बाहर जैनों की संख्या काफी बढ़ रही है। आफ्रिका, ब्रिटेन, कनाडा, अमेरिका ऐसे मुल्क हैं जहाँ सब तरह के जैन एक बड़ी संख्या में रह रहे हैं। इस तेजी से ऊगती-फैलती जैन प्रजा में जैन संस्कार बनें या मिटें यह चिन्ता का विषय है। बनें: इस पक्ष में यदि हम हैं तो हमें देखना होगा कि जो संस्कार भारत से उनके साथ इन-इन देशों की ज़मीनों पर उतरे हैं, वे वहाँ-वहाँ की तहज़ीबों और मज़हबों से कितना तालमेल रख पाये हैं, या रख रहे हैं? क्या संगति और समायोजन के चक्कर में हम अपनी मौलिकताओं का बेड़ा तो ग़र्क नहीं कर रहे हैं, या उन्हें बनाये रख कर अपने क़दम आगे उठा रहे हैं? ज्यादातर तो हमारे कर्मकाण्ड ही इन मुल्कों में फूल-फल रहे हैं। जैनधर्म का जो एक तर्कसंगत रूप है, उसकी ओर लोगों का ध्यान बहुत कम है। जो साधु-साध्वी हर साल वहाँ जाते हैं, या किन्हीं कारणों से जो वहाँ रहने लगे हैं, वे जैनधर्म को ले कर वहाँ क्या कर रहे हैं, इसका कोई तटस्थ/वस्तुनिष्ठ और तर्कसंगत ब्यौरा हमारे पास नहीं है। जो है, उसमें-से आशा की कोई किरण नहीं फूट पा रही है।

अलग-अलग फिरकों के अलग-अलग विचार वाले साधु-साध्वी वहाँ जा रहे हैं और भारत में सुरक्षित अपनी विशेषताओं को बनाये रखने की फिरक में हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो निपट अवसरवादी हैं और मौका देख कर अपना वेश और अपनी भूमिका निर्धारित कर रहे हैं। गंगा जा कर गंगादास और जमुना जा कर जमनादास होने/कहलाने वाले पंडित और साधु भी हर साल गर्मियों में इन मुल्कों में जाते हैं।

जो लोग पुरानी पीढ़ी के हैं, वे अपने संस्कारों के आस-पास बागड़ लगाये रखने के लिए इन पण्डितों और साधु-साध्वियों का उपयोग कर रहे हैं; किन्तु नयी पीढ़ी के लोगों में इस सबके लिए कोई आकर्षण नहीं है। वे विज्ञान की प्रत्यक्षता के दौर से गुजर रहे हैं। उन्हें आँख मूँद कर शास्त्रोक्त बात मान लेने की आदत अब नहीं रही है। वे उसे ही स्वीकार करना चाहते हैं, जो वैज्ञानिक और तर्कसंगत है। ज्यादातर जो खरा और प्रामाणिक है उसे जानने-मानने की तैयारी उनकी है और हो यह रहा है संपादकजी, कि हम इस नयी पीढ़ी को या क्षितिज पर उगती पीढ़ी को उसकी जिज्ञासा के अनुरूप जैनधर्म की कोई छवि नहीं दे पा रहे हैं। कहते हम हैं बार-बार कि जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है; किन्तु लोगों के सामने उसका कर्मकाण्डी रूप ही परोस रहे हैं। हम उस पीढ़ी को जो हमारी समकालीन है, या जो भविष्य के गर्भ में है उसे जैनधर्म की वैज्ञानिकता की ओर नहीं ले जा रहे हैं। हम भौतिकी, रासायनिकी, गणित और वानस्पतिकी के क्षेत्र की जैन उपलब्धियों की ओर न तो दुनिया-की-नजर खींच पा रहे हैं और न ही इस प्यासी तर्कसंगत पीढ़ी को उसकी पात्रता और पिपासा के अनुरूप कुछ दे पा रहे हैं। अधिकतर हम जैनधर्म को फिलॉसफाइज़ करते हैं और उसे एक आम आदमी की पकड़ और भूख से बाहर कर देते हैं। क्या हम विदेशों में कर्मकाण्ड के समानान्तर लोगों की ज्ञानपरक पिपासा पर भी ध्यान देने का प्रयत्न करेंगे? क्या हम उन्हें ऐसा साहित्य उपलब्ध करायेंगे जो जैनधर्म की स्वाभाविकताओं को प्रतिपादित करता हो और उसे एक ठोस वैज्ञानिक धर्म के रूप में प्रवर्तित करता हो?

क्या करूँ संपादकजी, लिखने को बहुत है; किन्तु लिखने मात्र से कुछ हो पायेगा ऐसा लग नहीं रहा है। अब तो मैदान में आ कर रचनात्मक कुछ करने की इच्छा है। क्या आप या आप-जैसे जागरूक जन समय रहते समय निकाल कर मैदान में कूदने का संकल्प करेंगे?

—प्रलयंकर



आशा की एक नयी किरण*

गत दो दशकों में प्राकृत/अपभ्रंश के अध्ययन-अनुसंधान पर व्यक्तियों और संस्थाओं का विशेष ध्यान गया है; किन्तु जो हुआ है वह उफान की तरह का कुछ है, उसके पीछे बहुत गहन योजना, त्याग, और समर्पण नहीं है। उदयपुर में 'प्राकृत अध्ययन प्रसार केन्द्र' की स्थापना एक अच्छा शकुन है; किन्तु समीक्ष्य त्रैमासिकी के रूप में उसकी अभिव्यक्ति उतनी गहरी और प्रभावी नहीं है, जितनी होनी थी। पत्रिका में सामग्री कम और प्रवृत्ति-प्रचार अधिक है। हमारे विचार में ऐसे अनुष्ठानों में समाचारात्मक या व्यक्तिमूलक होने के बजाय विचारात्मक और लोकमूलक होना जरूरी है। इन पंक्तियों का लेखक धन की सीमाओं और उसके ओछेपन से बाकिफ्र है इसीलिए वह अध्ययन-अनुसंधान के क्षेत्र में इसके चरण छूने से इंकार करता है (करता रहा है) और चाहता है कि जब भी प्राकृत/अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन की योजनाएँ बनायी जाएँ वे गंभीर हों, व्यक्ति-प्रेरित न हों, दीर्घकालिक हों और जन-ता/जन-जन से जुड़ी हुई हों। चकित-विस्मित रह जाते हैं हम तब, जब देखते हैं कि कोई लोकभाषा लोक-से-असंबद्ध चंद विशिष्टों के घेरे में हक-ठहर गयी है। 'प्राकृत-विद्या' का उद्भव स्वागत-योग्य है; किन्तु भविष्य में दो बातों का ध्यान रखना जरूरी लगता है: यह 'त्रैमासिक पत्रिका' बने, 'त्रैमासिक पुस्तक' नहीं; इसके संपादन में पत्रकारिता के मूल्यों/मानकों का ध्यान रखा जाए। संपादक में संभावनाएँ हैं; किन्तु साधनों पर उसका संपूर्ण नियन्त्रण न होने से उसकी योग्यता अव्यक्त और अनुक्त रह गयी है। हमें विश्वास है समीक्ष्य त्रैमासिक के आगामी अंक सामग्री-विपुल होंगे और प्राकृत-विद्या के क्षेत्र और स्वरूप को निर्धारित/निरूपित करने के अपने दायित्व से नहीं चूकेंगे।

विचार से बदल जाता है विश्व^२

समीक्ष्य कृति युवाचार्य महाप्रज्ञ की एक ऐसी बहुमूल्य कृति है जो अपनी दोनों हथेलियों पर अनुप्रेक्षा और भावना के निष्कम्प दीप लिये तेजकदम है। कृति

१. प्राकृत विद्या (त्रैमासिकी); प्राकृत अध्ययन प्रसार केन्द्र, श्री सुधर्म विद्यालय परिसर मार्ग क्र. १०, अशोकनगर, उदयपुर; संपादक-डॉ. प्रेमसुमन जैन; शुल्क-वार्षिक रु. ४०/-; आजीवन रु. ३५१/-; पृ. ५८; प्रवेशांक (जुलाई १९८८); राँयल/८
२. अमूर्त चिन्तन; युवाचार्य महाप्रज्ञ; तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती लाडनू (राजस्थान); मूल्य-बाईस रुपये; पृष्ठ-२८७; डेमो/८-१९८८

की बुनियाद है: विचार व्यक्ति को सिर-से-पैर तक बदल सकता है। वह उसका नियामक तत्त्व है। स्वीकृतिमूलक चिन्तन से व्यक्ति में जो रचनात्मक आलोड़न अँगड़ाई लेता है, वह उसमें एक अपूर्व बदलाव घटित कर सकता है। तनाव और असंतुलन के इस जमाने में महाप्रज्ञ की यह कृति खुद-ब-खुद स्पष्ट-स्थापित है। इन्द्रियों-के-कारावासी हम किस तरह सीमित, तंग, और अधीन हैं और अनुप्रेक्षा तथा भावना के औजार किस तरह हमारी इन बेड़ियों को काट सकते हैं इसकी परिपूर्ण विधि समीक्ष्य कृति का लक्ष्य है। युवाचार्य ने 'अनुप्रेक्षा : प्रयोग और विधि' के अन्तर्गत जिन अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख किया है, वे अ-परम्परित किन्तु जनोपयोगी हैं। राष्ट्र, संप्रदाय, मानवीय एकता, सहअस्तित्व जैसी अनुप्रेक्षाएँ जैन चिन्तन की परिधि को एक नवव्याप्ति और नवदीप्ति प्रदान करती हैं। अप्रामाणिकता की विकराल चुनौती को 'प्रामाणिकता-की-अनुप्रेक्षा' से जोड़ कर लेखक ने जिस वैयक्तिक/सामाजिक आधाम को प्रवर्तित किया है उससे तेरापंथ के चिन्तनात्मक पक्ष की व्याप्ति गहरी हुई है; किन्तु प्रश्न संबन्धित अनुयायियों की जिन्दगी में इसकी अभिव्यक्ति का है। क्या प्रस्तुत कृति पंथ और पंथेतर क्षेत्रों में कभी कोई स्पष्ट शकल ग्रहण कर पायेगी? पुस्तक विचारोत्तेजक, प्रेरक, आकर्षक, और मननीय है। हमें विश्वास है इसका खूब फलान होगा और यह पृष्ठों से कूद कर मैदान में फूलेगी-फलेगी।

तीन पठनीय चरित्र-कथाएँ*

मुनि रत्नसेनविजयजी की पुस्तकें पूरी तरह जन-जीवन से जुड़ी होती हैं। वे स्वप्निलता या काल्पनिकता में विश्वास नहीं करती बल्कि किसी ठोस धरती पर जीवन को बदलने का अविचल संकल्प रखती हैं। आलोच्य कृति में तीन चरित्र-कथाएँ हैं: सरल, सरस, सुबोध, संबोधक। ये हैं: माँ हो तो ऐसी हो, प्रभावक सूरिवर, ब्रह्मचर्य का प्रभाव। हमें विश्वास है इनके भीतर पैठी नैतिक ऊर्जा प्रकट होगी और उन लोगों को जो अंधे ढंग से परम्परित हैं और जो धर्म-की-धरा को तर्क-के-हल से अभी पूरी तरह खेड़ नहीं पाये हैं — नवार्थ प्रदान करने में सफल होगी।

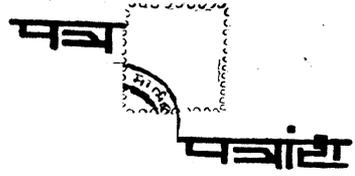
—नेमीचन्द्र जैन

* जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है; मुनि रत्नसेनविजयजी; स्वाध्याय संघ, द्वारा-इंडियन ड्राइंग इक्विपमेंट इंडस्ट्रीज़, शेड नं. २, सिडको इंडस्ट्रियल इस्टेट, अम्बाला, मद्रास-६०००६८।

समाज समझने लगा है कि—

‘तीर्थंकर’ (जुलाई अंक) सामने है। लगातार पढ़ता चला गया हूँ। ‘खालीपन का अहसास’ (सम्पादकीय) में आपने अमृत और आग एक-साथ उलीचे हैं; आपकी कलम वन्दनीय है। इतनी संचाई से और इतनी गहराई से लिखने वाले सम्पादक बिरले हैं; जो हैं वे दार्शनिक हैं; समाज के सच्चे शुभचिन्तक। आपकी पंक्तियाँ—

- * आज जो लोग समाज की विभिन्न कुर्सियाँ भरे हुए हैं, वे करीब-करीब अप्रासंगिक और बेमानी हो गये हैं। उन्हें उन पर बने या जमे रहने का कोई हक नहीं है; किन्तु वे हैं और पूरी बेशर्मी से उन पर हैं।
- * लोग जिस अदा से नेतृत्व कर रहे हैं वह निष्कपट है या उसकी पृष्ठभूमि पर कोई चालबाजी है ?
- * आज ज्यादातर सामाजिक कुर्सियाँ निर्जल बादल की तरह हैं, वे गरजती हैं; किन्तु बरसने या बरसाने के लिए— उनके पास कुछ है नहीं। क्या हम उन कुर्सियों के खाली होने का अहसास कभी कर पायेंगे ?
- * क्या अन्दर से रिक्त लोग किसी कुर्सी को भर सकते हैं? जिनका अपना कोई आदर्श या उसूल नहीं है, कुर्सी को भर सकते हैं ?
- * जैन चरित्रों में जो पानी था वह खत्म हो गया है; पूरी तरह चुक गया है।
- * जो लोग समाज में विभिन्न कुर्सियों पर हैं, वे होने को हैं, असल में उनमें कोई दम-वम है नहीं। ऊपर से भरे; किन्तु भीतर से रीते लोग कितने दिनों तक किसी समाज का नेतृत्व कर सकते हैं ?
- * जब साफ-साफ कहा जा रहा है कि आपके इस पेशे से जैनधर्म की मौलिकताओं की रीढ़ टूट रही है, अतः मिहर-बानी कर आप या तो नेतृत्व से हट जाइये या फिर कलेजा हो तो तुरन्त अपने व्यवसाय में आवश्यक तब्दीली



कीजिये; तब भी लोग समझ नहीं पा रहे हैं और अड़े हुए हैं।

सच, आप मुनियों की तरह अक्षर-अक्षर सत्य जुटा रहे हैं, यह पृथक् बात है कि धन और नाम के प्यासे और स्वार्थी तत्त्व समाज के पदों से जोंक की तरह लगे रहना चाह रहे हैं। आपके लेख पढ़ कर वे समझें या न समझें, समाज समझने लगा है कि जोंक चुपचाप क्या पीती रहती है !!

इसी अंक में डॉ. गोकुलचन्द्र जैन श्रुत-संरक्षण पर उचित संकेत कर रहे हैं— ‘आचार्य धरसेन ने श्रुत-संरक्षण के लिए नयी पीढ़ी को श्रुत ज्ञान हस्तान्तरित करने की प्रशस्त परम्परा प्रवर्तित की’। ‘सूदखोर संस्कृति’ के नाम पर ‘प्रलयंकर’ जी ने भी बहुत कुछ लिख डाला है; सूदखोरों को प्रकाश देने में है सक्षम यह शब्द-चित्र।

डॉ. अनिलकुमार का पत्र भी पढ़ गया हूँ; जैन समाज को आज ऐसे ही लेखकों की जरूरत है; पर दुःख यह है कि ऐसे लोगों को सिर्फ ‘तीर्थंकर’ ही छापने का साहस करता है; अन्यो को तो अपना धन्धा प्यारा है।

और अन्त में बधाई श्री गुलाबचन्दजी को जिन्होंने पुत्री की शादी में ‘अण्डा : ज़हर ही ज़हर’ की २०० प्रतियाँ अतिथियों को भेंट दीं। देश के श्रावकों से मैं व्यक्तिगत प्रार्थना करता हूँ कि वे शाकाहार-प्रचार की दिशा में, अपने परिवार के अनेक आयोजनों में; उक्त तरह की लघु पुस्तकें भेंट करने की श्रेष्ठ परम्परा प्रारम्भ करें। जैन तो जैन, अपने अजैन मित्रों को भी प्रेरित करें।

—सुरेश सरल, जबलपुर

काश ! हम गरेबाँ में झाँक पाते

आवरण-सहित मात्र ३६ पृष्ठों के जुलाई अंक में जैन आचार, विचार और व्यवहार संबन्धी ढेर सारे प्रश्न उठाये गये हैं, कितने ही परिवर्तनों, पुनर्स्थापनाओं आदि के सुझाव भी हैं। 'चुनौतियाँ' से ले कर 'संपादकीय' और 'सूदखोर संस्कृति : क्या दे रही है यह विरासत में' तक में समाज, नेता, जनता, और कार्यकर्ता के सिद्धान्त अथवा सिद्धान्त-हीनता की ओर जो ध्यान खींचने का प्रयास किया गया है, उसकी चिकित्सा का सूचक सूत्र भी तीन शब्दों के एक लघु वाक्य में 'झाँकिये गरेबाँ में' शीर्षक से पृष्ठ २३ के शीर्ष पर अंकित कर दिया गया है। काश ! जैन-अजैन, साधु-श्रावक, वक्ता-लेखक, संपादक, फिरके, गच्छ, आमनाय अथवा मंदिरों, तीर्थों, ट्रस्टों आदि के अधिष्ठाता, संचालक आदि सभी व्यक्ति-गत रूप में सदाशयता और समग्रता से अपने गरेबाँ में झाँक पाते तो संभवतः आज या कल किसी को उस ओर उँगली उठाने की कसरत नहीं करनी पड़ती या पड़ेगी। कुल मिला कर अंक उद्बोधक विचारों की मजूषा बन गया है।

—कन्हैयालाल सरावगी, छपरा

संपादकीय : स्थिति का यथातथ्य

दिग्दर्शक

जुलाई ८८ का अंक देख गया हूँ। 'तीर्थंकर' समाज की सुप्त चेतना जागृत करने के सतत प्रयत्न कर रहा है। इस अंक का संपादकीय स्थिति का यथातथ्य दिग्दर्शक है। आज के नेतृत्व ने अपने धन-बल से समाज का नेतृत्व किया है - परिणाम सामने है : गतिहीनता। इसी अंक में डॉ. अनिल-कुमार जैन का पत्र 'क्या हम इन्हें अब भी जैन कहें?' देखा। मुझे स्मरण है यह प्रश्न सन् १९६८ में भारत जैन महामण्डल द्वारा आयोजित एक मीटिंग में भी एक सज्जन

ने रखा था; किन्तु तब आयोजक को बुरा लगा; वे कहते रहे कि यह व्यक्तिगत प्रश्न है। —नरैभायमल जैन, गुजालपुर

वैचारिक क्रान्ति की नींव

'तीर्थंकर' का जुलाई अंक मिला। आप अपने संपादकीय से पत्रिका की कृश काथा में कितनी ऊर्जा भर देते हैं? मैं विस्मित और चकित हूँ। 'खालीपन का अहसास' एवं 'सूदखोर संस्कृति' की प्रत्येक पंक्ति, नहीं प्रत्येक शब्द, पठनीय है। आपकी सधी हुई दीठ अच्छी है। आप विचार-क्रान्ति की नींव रख रहे हैं।

—कन्हैयालाल सेठिया, कलकत्ता

संस्थाओं की होड़ रोकिये

'तीर्थंकर' पत्रकारिता का धर्म निष्ठा से निभा रहा है। 'तीर्थंकर' के अंक में सदैव ध्यान से पढ़ने का प्रयास करता हूँ। अनेक लेख बहुत सुन्दर एवं धर्म-प्रभावना को लिये प्रकाशित होते हैं, जो गहरी छाप छोड़ जाते हैं। 'संपादकीय टिप्पणी' भी अपना अलग प्रभाव रखती है। एक ही प्रार्थना है कि क्या यह संभव है कि जैन समाज में संस्थाओं की बढ़ती हुई होड़ को रोका जा सके और एक ही प्लेटफार्म पर अधिक-से-अधिक लोग एकत्रित हों।

—नरेन्द्रकुमार जैन, देहरादून

समाज ऋणी रहेगा

'तीर्थंकर' के सत्रह वर्षों के सफल और अनवरत प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक बधाई लीजिये। विचारोत्तेजक सामग्री तथा महत्वपूर्ण विशेषांकों के कारण इसका जैन पत्रकारिता में अपना निराला स्थान है। इस सिलसिले में जैन समाज 'तीर्थंकर' की निष्काम/निःस्वार्थ सेवाओं के लिए सचमच बहुत ऋणी है/रहेगा।

—डॉ. विकास आ. संगवे, कोल्हापुर

—होम्बुज। यहाँ के भट्टारक स्वामीजी लेस्टर प्रतिष्ठोत्सव में भाग लेने के साथ ही लंदन, पश्चिम जर्मनी, बेल्जियम, फ्रान्स आदि देशों में आयोजित विभिन्न समारोहों में भाग लेंगे। यह उनकी ग्यारहवीं विदेश-यात्रा है।

—सतना। जैन क्लब परिसंघ के अध्यक्ष श्री निर्मल जैन के नेतृत्व में परिसंघ-कार्य-कर्ताओं का एक दल इंग्लैंड/अमेरिका में आयोजित विभिन्न जैनोत्सवों में सम्मिलित होने १५ जुलाई को रवाना हुआ। यह दल लेस्टर में आयोजित प्रतिष्ठोत्सव/विश्व जैन परिषद् में सम्मिलित होने के बाद अमेरिका, कनाडा, फ्रान्स, बेल्जियम, हॉलैंड, स्विट्ज़रलैंड आदि देशों की यात्रा करता हुआ १२ अगस्त को स्वदेश लौटेगा। दल में परिषद्-संरक्षक श्री हुकमचन्द जैन तथा कोषाध्यक्ष श्री राजेन्द्र जैन एवं श्री अभयकुमार जैन भी हैं।

—जयपुर। हल्दियों का रास्ता स्थित लदान भवन में एक निःशुल्क जैन होम्यो-पैथिक चिकित्सालय स्थापित किया गया है, जिससे सैकड़ों व्यक्ति लाभान्वित हुए हैं।

—बम्बई। श्री जैन श्वे. तेरापथ महिला मण्डल ने २४ जुलाई को एक निःशुल्क नेत्र-चिकित्सा शिविर लगाया, जिसमें सुप्रसिद्ध नेत्र-चिकित्सक डॉ. एस. सी. भण्डारी और उनके सहयोगियों ने रोगियों का निःशुल्क निदान किया और मण्डल ने उन्हें निःशुल्क दवाइयाँ/चश्मे उपलब्ध कराये।

—कोथली (कर्नाटक)। राष्ट्र-संत/विश्व-धर्म-प्रद्योतक जैनाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द जी का वर्षायोग यहाँ संपन्न हो रहा है। प्रयास है कि उनके चातुर्मास में उत्तर-दक्षिण के सांस्कृतिक संबन्ध सुदृढ़ हों और जैनधर्म/दर्शन के लिए एक स्वस्थ समझ और उपयुक्त वातावरण बने।



ज.—करमाले (सोलापुर): २७-१२-१८९१
नि.—कुंभोज बाहुबली: १८-८-१८८८

—कुंभोज। गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के पुनरुज्जीवक जैनाचार्य समन्तभद्रजी महाराज का १८ अगस्त १९८८ को प्रातः सल्लेखनापूर्वक निधन हो गया। वे ९७ वर्ष के थे। उन्होंने कीर्ति-कांचन से कोसों दूर रह कर दिगम्बर मुनित्व को अभिनव ऊँचाइयाँ प्रदान करते हुए महाराष्ट्र और कर्नाटक में १९ गुरुकुलों और ५०० शालाओं की स्थापना की। पहला गुरुकुल १९८८ में कारंजा में स्थापित किया। आचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज तथा साहित्य-मनीषी श्री जैनेन्द्रकुमार ने उनके निकट शिक्षा प्राप्त की थी। 'तीर्थकर' के सितम्बर १९८८ के अंक में पहिले इस महामुनि के भारतीय संस्कृति को योगदान पर एक विस्तृत लेख।

—जबलपुर। २३ अगस्त को जैनधर्म-दर्शन के मनीषी विद्वान् तथा अर्थशास्त्री डॉ. सुशीलचन्द्र दिवाकर का निधन हो गया। वे एक जाने-माने गाँधीवादी चिन्तक और वाणिज्य-प्राध्यापक थे।

—जयपुर। पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की डीड में किये गये संशोधनों का व्यापक स्वागत हुआ है और आशा व्यक्त की गयी है कि ट्रस्ट उदार मन से समाज-की-एकता के लिए हर संभव प्रयास करेगा।

—सिकन्दराबाद। यहाँ युवाचार्य डॉ. शिवमुनिजी का चातुर्मास है। कोशिश है कि उनका यह वर्षायोग शाकाहार, नागरिक संस्कार, अहिंसा-प्रचार, तथा प्राणि-मात्र-के-लिए अभय की दृष्टि से ऐतिहासिक सिद्ध हो।

—सासनी। १४ जुलाई को 'महामन्त्र णमोकार एवं विश्व-शान्ति संगोष्ठी' का आयोजन किया गया। संगोष्ठी के प्रमुख सत्र का मुख्य आतिथ्य 'टाइम्स ऑफ इंडिया पत्र समूह' के महानिदेशक साहू रमेशचन्द्र जैन ने किया। संगोष्ठी के प्रमुख वक्ता भारतीय ज्ञानपीठ के एडव्हाइजर श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन थे। डॉ. महेन्द्रकुमार प्रचण्डिया ने णमोकार महामन्त्र के माहात्म्य पर विशेष प्रकाश डाला।

—कोथली। मुनिश्री बाहुबली महाराज अपना वर्षायोग यहाँ संपन्न कर रहे हैं। सुना है यहाँ वे जैन ध्यान और स्वाध्याय की परम्पराओं के पुनरुज्जीवन का प्रयत्न करेंगे।

—बेलूर। जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी की परम्परा में श्रमणसंघ के आचार्य श्री नानालालजी का ६९ वाँ जन्मदिन त्याग-तपस्या के रूप में मनाया गया।

—नई दिल्ली। अखिल भारतवर्षीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस ने अपने जीवन के ८२ वर्ष पूरे कर लिये हैं। वर्तमान में इसके २३५० सदस्य हैं और विभिन्न सामाजिक गतिविधियों के संचालन के लिए इसके पास १२,२०,००० रु. का विशद कोष है। आगामी अक्टूबर-नवम्बर में इन्दौर में कान्फ्रेंस का अमृत-महोत्सव आयोजित किये जाने का समाचार है।

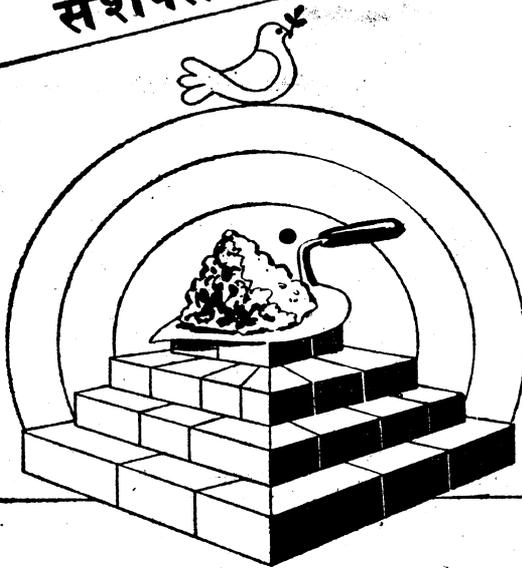
—नई दिल्ली। ग्रीनपार्क स्थित दिगम्बर जैन मंदिर में एक 'द्रव्यसंग्रह शिक्षण शिविर' का आयोजन किया गया। किसी एक ग्रन्थ के अध्ययन का यह पहला शिविर था।

—इमोह। मुनिवर श्री योग-सागरजी, श्री स्वभावसागरजी, श्री क्षमासागरजी तथा श्री ध्यानसागरजी के सान्निध्य में एक 'द्विमासिक षट्खण्डागम वाचना शिविर' सफलतापूर्वक संपन्न हुआ। श्रुतपंचमी के अपूर्व अवसर पर वाचना-प्रमुख पं. जगन्मोहनलालजी का अभिनन्दन किया गया। डॉ. भागेन्दु जैन तथा पं. रविचन्द्र जैन की भूमिका उल्लेखनीय है।

—लेस्टर। इंग्लैंड के वस्त्रोद्योग का यह प्रमुख नगर इन दिनों चारों जैन संप्रदायों (मंदिर-मार्गी, स्थानकवासी, श्वेताम्बर, दिगम्बर) की धार्मिक/सांस्कृतिक हलचल का केन्द्र बना हुआ है। यहाँ ८ से २३ जुलाई तक आयोजित प्रतिष्ठोत्सव एवं विश्व जैन परिषद् में पूरे विश्व से हज़ारों जैन आये हुए हैं। ऑक्सफर्ड स्ट्रीट पर संगमरमर का एक विशाल तिमंजला मंदिर बनाया गया है, जो इन दिनों 'भारत-से-बाहर जैन एकता' का जीवन्त प्रतीक बन गया है। मंदिर की भित्तियों और छतों पर जैसलमेर (राजस्थान) के पीले संगमरमर पर भारतीय नक्काशों ने अद्भुत नक्काशी की है। इन शिल्पित पाषाण-खण्डों को विमान से लाया गया है। शोभायात्रा, और अन्य सभी उत्सवों के अन्त में 'विश्व जैन परिषद्' हुई जिसमें पश्चिम में प्रथम जैन केन्द्र की स्थापना का निर्णय लिया गया।

—थराद। श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक जैन संघ के आचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी यहाँ अपना वर्षायोग संपन्न कर रहे हैं। बताया गया है कि वे इस वर्षायोग में श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी की महत्त्वपूर्ण कृति 'पाइसददंबुहि' का संपादन करेंगे। □

लोकतंत्र,
समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता,
एकता और अखंडता—
शांति और प्रगति के
सशक्त आधार



www.88/243

तीर्थंकर : अगस्त ८८/४३

(आवरण पृष्ठ ३ का शेष)

दिखावे की प्रवृत्ति इस क्रम में बढ़ गयी है कि हमारे पास यदि किसी मौके के लिए कुछ नहीं है तो हम उसे उधार या किराये पर लाते हैं और प्रकट करते हैं कि वह हमारा अपना है। बैठकखाने और किचन की जो दूरी है, वह दिखावे का बैरोमीटर है। किसी मेहमान के आने पर हम उसके सामने अपना जो रूप प्रकट करते हैं, उसमें भी प्रदर्शन की भूख अधिक होती है। कहीं जाने-आने में भी हम प्रदर्शन-की-होड़ में खुद को काफी उजाड़ बैठते हैं। होना असल में यह चाहिये कि हम प्रतिपल वही हों जो हम मूलतः हैं—जो हम हैं नहीं, या हो नहीं सकते उसे पल-भर को भी अपने पास न फटकने दें। अध्यात्म के क्षेत्र में दिखावे के लिए कोई जगह नहीं है। इस इलाके में जिस शुद्धात्म स्वभाव की चर्चा हम करते हैं, असल रूप वही है। शरीर सिर्फ टीमटाम है। वह सचाई पर ढँका सोने का लुभावना ढक्कन है। लोग इसी ढक्कन—दिखावे को अन्तिम मान कर अपना आपा बिसार बैठते हैं। ज्यादातर भूलें दृश्य के कारण होती हैं। जो हमें दीख पड़ता है, उसे ही हम अन्तिम मान लेते हैं और एक अन्तहीन धोखे में यात्रा करने लगते हैं; किन्तु जैसे ही मर्म प्रकट होता है और भ्रान्ति-का-भाँडा फूटता है, हमारी आँखें खुलने लगती हैं और हम उस जगह आ खड़े होते हैं, जहाँ सत्य अपने दिगम्बर/नग्न रूप में चुपचाप बैठा होता है।

इस अवाक् सत्य पर से प्रायः हमारी अँगुलियाँ और आँखें रिपट जाती हैं और हम उस दुष्चक्र में फँस जाते हैं, जो हमें कोल्हू-के-बैल की तरह भ्रमाता रहता है। कोल्हू-का-बैल यदि जान पाये कि वह जिस जमीन पर भ्रम रहा है, वह बार-बार वही-वही है तो वह पागल हो जाएगा या ग़श्त खा कर गिर पड़ेगा। दिखावा कोल्हू-का-बैल है और हम एक अन्तहीन भ्रम में बने हुए हैं। अपनी असलियत को चूकते जाना हमारा संस्कार बन गया है। दिखावा सिर्फ एक किस्म का नहीं है, वह किस्म-किस्म का है। दिखावे की करारी चुनौती प्रतिपल हमारे सामने है और लगातार अपने नाखून तेज़ कर रही है। हमें चाहिये कि हम इसे समझें और अपने मूल रूप पर समेक-से-अविचल बनें। —प्रलयंकर

(पृष्ठ १८ का शेष)

आड़ में छिपाने-जैसी हैं, और मिथ्यात्व की चमत्कार हैं। मिथ्यात्व के कारण ही यथार्थ ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं हो पाता और लोग अधिक राग-रंजित हो जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि जो लोकोपकार करता है, वह भी मान, लोभ आदि अपनी किसी कषाय के कारण करता है। उसकी तपस्या त्याग आदि आत्महित की दृष्टि से न हो कर मान, बड़ाई, ख्याति आदि की आशा से होती है, स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठ और ऊँचा सिद्ध करने की स्पृहा के लिए होती है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, मिथ्यात्व मोहिनी, मिश्र मोहिनी और सम्यक्त्व मोहिनी प्रकृतियों के सात स्थानों में मिथ्यात्व पलता है। मिथ्यात्व एक अंतर्ग्रन्थि है, जिसका क्षय हुए बिना धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आता; इसलिए जिसे आत्म-कल्याण करना है, उसे सतत जागरूकतापूर्वक (निष्प्रमाद) मिथ्यात्व और उसके सहकारी कारणों की असमीचीन और अप्रकृत मनःस्थिति से सदैव बचते रहना चाहिये। □

महिलाओं के हक के लिए नई पहल



महिलाओं की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विश्व की आधी जनसंख्या महिलाओं की है। लेकिन फिर भी महिलाएं ही विश्व के सबसे बड़े दलित वर्ग में आती हैं। जिस रूप में उन्हें विकसित होना चाहिये, उन्हें उस रूप में विकसित नहीं किया जाता है। उन्हें जैसे अवसर दिये जाने चाहिये वैसे अवसर नहीं दिये जाते, लेकिन घरों में अभी महिलाओं की आवाज है और यहीं से शान्ति के लिए पहल की जाना चाहिये।

—राजीव गांधी

आजादी के बांद देश के नवनिर्माण में महिलाओं को भागीदारी सुनिश्चित करने तथा उनके सामाजिक और आर्थिक उत्थान के लिए मध्यप्रदेश में नई कार्य योजना लागू की गई है। इसके अन्तर्गत—

- मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में महिला और बाल-विकास कल्याण मंडल का गठन।
- प्रदेश में महिला आर्थिक विकास निगम, लोन महिला रोजगार मार्गदर्शन कार्यालय तथा महिला विकास केन्द्रों की स्थापना।
- प्रत्येक संभाग में महिला पॉलिटिकीक की स्थापना का निर्णय।
- सार्वजनिक संस्थाओं में नामांकन या सहयोजन की बजाय चुनाव में निर्धारित प्रतिशत में महिलाओं को प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था।
- राज्य में नौ परिवार न्यायालयों की स्थापना।

हकों की लड़ाई में महिलाओं के साथ मध्यप्रदेश सरकार

ज.सं.सं./डी/88

तीर्थकर : अगस्त ८८/८५

भारतीय ज्ञानपीठ

महत्त्वपूर्ण जैन साहित्य

आविपुराण (भाग-१,२)

संस्कृत मूल : आचार्य जिन सेन । विद्वत्तापूर्ण विशिष्ट प्रस्तावना, परिशिष्ट एवं हिन्दी अनुवाद : पं. (डॉ.) पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य । अध्येता पाठकों तथा शोधकर्ताओं की विशेष माँग पर प्रस्तुत कृति के दोनों भागों का तीसरा संस्करण ज्ञानपीठ से प्रकाशित । कपड़े की सुन्दर जिल्द में उपलब्ध । मूल्य प्रथम-भाग-१००/-
द्वितीय भाग-७५/-

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

चार भागों में नियोजित प्रस्तुत कृति का संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण । ग्रन्थ लेखक-जिनेन्द्र वर्णी । तीन भागों में प्रकाशित । चतुर्थ भाग शीघ्र प्रकाश्य । प्रत्येक भाग का मूल्य १२०/-

षट्खण्डागम परिशीलन

जैन दर्शन और सिद्धान्त के सर्वाधिक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर विस्तारपूर्ण एवं विशद अध्ययन । लेखक-पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री । बड़ी साइज में लगभग १००० पृष्ठों का बृहद् ग्रन्थ । मूल्य १२०/-

पट्टमहादेवी शान्तला (चार भागों में)

दक्षिण भारत के होयसल राजवंश के महाराजा विष्णुवर्धन की जैन धर्मपरायणा, संयमशील पटरानी शान्तलादेवी को केन्द्र में रखकर लिखा गया एक ऐसा सशक्त एवं रोचक विशाल (लगभग २००० पृष्ठों का) उपन्यास जिसमें राजवंश की तीन पीढ़ियों की कथा देश और समाज के समूचे जीवन-परिवेश की पृष्ठभूमि में प्रतिबिम्बित है । 'मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार' से सम्मानित । लेखक-सी. के. नागराजराव । मूल्य-भाग एक ४८/-, भाग दो-३५/-, भाग तीन-५५/-, भाग चार-६०/- ।

गोमटेश गाथा (उपन्यास)

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध जैन तीर्थस्थल श्रवणबेलगोल की पावनभूमि एवं गोमटेश बाहुबली की विश्वविख्यात मूर्ति की स्थापना का संपूर्ण इतिहास उपन्यास के रूप में । बहुत ही रोचक और प्रशंसित । लेखक-नीरज जैन । नया संस्करण, मूल्य-४८/-

Tiruvalluvar & his Tirukkural

This work undertakes to spell out the implications of the tenets found in 'Kural' and relate them to Jaina doctrines as they should be. By Ka Naa Subramanyam, a distinguished Tamil writer. Price Rs. 45/-

भारतीय ज्ञानपीठ

हमारे गौरवशाली नये प्रकाशन

अंधारुआ (कहानी-संग्रह) : सच्चिदानन्द राउतराय

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता सच्चिदानन्द राउतराय की श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह। भारतीय श्रमिक, कृषक तथा अन्य पिछड़े वर्गों के संघर्षों, अभावों और उत्पीड़नों के बारे में लिखी गयीं ये कहानियाँ समसामयिक जीवन की विद्रूपता और विकृतियों पर तीखा व्यंग्य करती हैं। उड़िया मूल से हिन्दी में अनूदित। मूल्य ४५/-

बसन्त के एकान्त जिले में (कविता-संग्रह) : सच्चिदानन्द राउतराय

उड़िया साहित्य में काव्यमुक्ति के अग्रदूत एवं यशस्वी कवि सची बाबू की प्रमुख कविताओं का संकलन। उड़िया मूल से हिन्दी में अनूदित। मूल्य ५०/-

गूंगे सुर बाँसुरी के (कहानी-संग्रह) : पद्मालाल पटेल

ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित लेखक की श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह। मूल्य ४५/-

महाभारती (उपन्यास) : डा. चित्रा चतुर्वेदी

द्रोपदी के ओजस्वी चरित पर आधारित एक सशक्त उपन्यास। मूल्य ५०/-

दुर्दम्य (उपन्यास) गंगाधर गाडगिल

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के फौलादी, दुर्दम्य, तूफानी और बहुआयामी व्यक्तित्व से साक्षात्कार कराने वाली एक सशक्त रचना। बृहद् उपन्यास के रूप में तिलकजी के संघर्षपूर्ण जीवन का जीवन्त इतिहास। हिन्दी में पहली बार। मूल्य १४०/-

भारतीय साहित्यकारों से साक्षात्कार : डॉ. रणवीर रांग्रा

प्रमुख भारतीय साहित्यकारों के साहित्य, उनकी रचना-प्रक्रिया और उनके व्यक्तित्व को बेहतर ढंग से समझने का एक अभिनव प्रयास। प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के पचास से अधिक प्रख्यात साहित्यकारों के साथ जाने-माने समालोचक डॉ. रणवीर रांग्रा के अन्तरंग एवं प्रमाणिक साक्षात्कार। मूल्य ११५/-

बागपत के खरबूजे (व्यंग्य-लेख) : हरीश नवल

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा आयोजित नयी पीढ़ा के लिए प्रवर्तित प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ निर्णीत हास्य-व्यंग्य-संग्रह। मूल्य २८/-

पट्टमहादेवी शान्तला (उपन्यास) : सी. के. नागराज राव

दक्षिण भारत के होयसल राजवंश के महाराजा विष्णुवर्धन की पटरानी शान्तला देवी को केन्द्र में रखकर लिखा गया एक ऐसा सशक्त उपन्यास जिसमें राजवंश की तीन पीढ़ियों की कथा देश और समाज के समूचे जीवन-परिवेश की पृष्ठभूमि में प्रतिबिम्बित है। सम्पूर्ण उपन्यास चार भागों में। मूल्य क्रमशः ५३/-, ५५/-, ५५/-, ६०/-

भारतीय ज्ञानपीठ

१८ इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११० ००३

तीर्थकर : अगस्त ८८/४७



S. Kumars®

A Trusted Name in

**'TERENE' & 'TERENE' BLENDED
SUITINGS ○ SHIRTINGS ○ SAREES**

Phone : 29 84 32 / 31 58 33

Grams : 'Ashokamills', Bombay 400 026

Telex : 011-2952

Registered Office :

S. KUMAR

"NIRANJAN"

99, Marine Drive, BOMBAY-400 002

दिखावा — चुनौती (२)

हमारे जीवन के चारों ओर कई-कई चुनौतियाँ गिद्ध-की-भाँति अपने पंख फैलाये और अपनी तीखी चोंच झुकाये मँडरा रही हैं। दिखावा एक इसी तरह का खूँखार गिद्ध है।

‘दिखावा’ शब्द पर ध्यान दें। यह ‘देखना’ क्रिया में ‘आवा’ प्रत्यय के जूड़ने से अस्तित्व में आया है। इसके मायने हैं : हम जो नहीं हैं, वह हों; हम जो हो नहीं सकते वैसा होने का अभिनय करें। प्रदर्शित करें कि हम किसी से कम नहीं हैं। बतायें कि हमारे पास वह सब है, जो दूसरों के पास नहीं है, बल्कि उनसे कई गुना बढ़-चढ़ कर है। कपड़े, खाना, रहना, महल-मकान, जर-जायदाद, फैशन सभी क्षेत्रों में हम वह सब ओढ़ कर चलें जो हमारा अपना नहीं है तो हमारा यह आचरण दिखावे की श्रेणी में आयेगा। यहाँ तक कि कई बार हम अपना बुनियादी चेहरा भी घर की खूँटी पर टाँग कर एक दूसरा ही चेहरा लगा कर समाज-में-विचरण करते हैं और अपने तथा दूसरों के सामने गलतफहमियों का एक विषम जाल बून डालते हैं। हम जानते हैं कि हम जो नाटक कर रहे हैं, उसमें कोई दम नहीं है; किन्तु एक झूठ/एक मिथ्यात्व को ओढ़ने में हमें रस आने लगा है। जो अपना नहीं है उसे अपना कर हम ऐसा कुछ दिखाना चाहते हैं जिसे हमने बतौर नक़ल और ठमक के लिए अपने कब्जे में लिया है, जो हमारा असली व्यक्तित्व नहीं है। इसमें कोई सार नहीं है बल्कि आशंका है उस सबके विसर जाने की जो हमारा मूलधन है। अक्सर लम्बे समय तक नाटक करते-करते कई बार लोग अपने बुनियादी रूप को विसार बैठते हैं, उससे कोसों दूर निकल जाते हैं—इतनी दूर कि जिस बिन्दु पर वे पहले कभी थे उस पर लौटने में मुश्किल होने लगती है। देखिये न, दान हम देते हैं तो इस शैली में देते हैं कि जिसे हम दे रहे हैं और जितना हम दे रहे हैं वह सबमें बड़ा है जबकि इत्तफ़ाक़ से वह सिर्फ़ तलछट होता है। उसके पट्टे लगते हैं। सीढ़ियाँ होती हैं तो उन पर नाम-पता खोदा जाता है। मंदिर-मूर्ति होती है तो उस पर भी नाम-बल्दियत अंकित की जाती है। कोई किताब/पोथी होती है तो उसमें एक बहुरंगी फोटो छपता है।

इसी तरह यदि हमने कोई उपवास, एकासन, तेला, बेला, मासखमण आदि किया है तो उसका भव्य प्रदर्शन होना ही चाहिये। दस लोग देखते हैं तो बात गहरी हो जाती है; लगता है कि वाकई तपस्या का कोई फल हाथ-हथेली पर आ गया है। असली तपस्वी ने कब क्या किया है इसकी कोई सूचना नहीं मिल पाती; किन्तु जो अपना ढिंढोरा पीटना चाहते हैं उनके लिए तो एक-दो उपास ही काफी होते हैं। उन्हें मालाएँ पहिनायी जाती हैं, उनका गुणगान किया जाता है। भेद-विज्ञान इस भागमभाग और स्तवन-कीर्तन में बहुत पीछे छूट जाता है— उपवास का चिकित्सात्मक महत्त्व तक लोगों को विदित नहीं होता—आध्यात्मिक गौरव-बोध की बात तो बहुत फासले की है। क्या संभव है कि हम कोई-काम करें और इसलिए करें कि उसका किया जाना बुनियादी तौर पर महत्त्वपूर्ण है? क्या जो हम अपने लिए करते हैं उसका प्रचार-प्रसार बहुत जरूरी है? ध्यान रहे : जब भी, जो भी अपने लिए होगा, उसकी दुन्दुभि नहीं बजेगी। दुन्दुभि असल में उसकी बजती है (बजेगी), जो दूसरों के लिए किया जाता है। आज

सम्यक्त्व-का-सावन

- अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए तो तू सदैव पांच क्रम आगे रहता है और परमार्थ के लिए विकलांग (लूला) बन जाता है। कौसी विडम्बना है? जब तू काम ही ऐसे करता है जिनसे तुझे दुःख मिले, तब भला तुझे सुख कैसे मिल सकता है? (भूधर)
- वह सुअवसर मुझे कब मिलेगा जब तृण और कंचन दोनों ही मुझे एक-जैसे मालूम देंगे और मणि-खचित-प्रासाद और पर्वत की कन्दरा (गुफा) में मुझे कोई भेद की प्रतीति नहीं होगी? (दौलत)
- शरीर जड़मय और तू चैतन्यमय है। जब ये दोनों बिलकुल अलग-थलग वस्तुएँ हैं, तब तू हठात् इन दोनों का गठबन्धन क्यों करना चाहता है? (दौलत)
- सम्यक्त्व-का-सावन द्वार पर खड़ा है। कुरीति और मिथ्या-धारणा-रूपी ग्राम बीत चुका है। ऐसे में आत्म-रस की वर्षा कितनी भली लग रही है। (दौलत)
- घट के भीतर बसने वाले देव के दर्शन कर। तीर्थों में मारा-मारा क्यों भटकता है? यह देह ही देवालय है। इसमें जो अनन्त शक्ति-संपन्न परमात्मा अधिष्ठित है; उसी की आराधना कर। (मुनि रामसिंह)
- इन्द्रिय-संबन्धी सुख पराधीन है, बाधा-सहित है, विनाशी है, बन्ध का कारण है, और विषम है; इसलिए इसे सुख नहीं, बल्कि दुःख ही जान। (कुन्दकुन्द)
- तू इस विषम संसार से अपना उद्धार, अपनी मुक्ति चाहता है न? तो फिर तू ही सोच बन्धन में बँध कर क्या कभी कोई स्वाधीन हो सका है? (सोमप्रभसूरि)

[श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा प्रचारित]